आर्ष विज्ञान

लेखक

स्व० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

आर्ष विज्ञान

(स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती के छह निबन्ध)

लेखक

स्व० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

सम्पादक

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

अनुवादक

डॉ० सुनील दत्त तिवारी

विज्ञान परिषद् प्रयाग

18 जनवरी, 1996 मूल्य 20.00 रु०

विषय सूची

प्रकाशकीय

वैदिक साहित्य में विज्ञान का विपुल भण्डार है जिसका उद्घाटन समय-समय पर होता रहा है। स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती उन गिने-चुने विज्ञानियों में से हैं जिन्होंने प्राचीन भारत के वैज्ञानिक वाङ्मय पर प्रकाश डाला। एक रसायनवेत्ता होते हुए भी उन्हों वेदों का आकण्ठ आस्वाद करके आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वेदों में आये विज्ञान विषयक प्रसंगों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या की है।

आर्ष साहित्य के प्रति स्वामी सत्यप्रकाश की रुचि प्रारम्भ से ही रही है। 1950-52 में उन्होंने बिहार राष्ट्रभाषा परिषद में कुछ व्याख्यान दिये थे, जिनका प्रकाशन 1954 में 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' के रूप में हुआ। इसके पश्चात् 1960 में 'प्राचीन भारत में रसायन का विकास' का प्रकाशन हिन्दी समिति लखनऊ से हुआ और Founders of Science in India (1966) तथा A critical Study of Brahma Gupta and his works (1968) नामक अन्य दो ग्रंथों का प्रकाशन दिल्ली के Research Institute of Ancient Scientific Studies से हुआ। तत्पश्चात् बोधायन तथा आपस्तम्ब के 'शुल्बसूत्र' एवं 'बक्साली मैनुस्क्रिप्ट' का प्रकाशन डॉ रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान, इलाहाबाद (1979) से हुआ। इन सारे ग्रंथों में स्वामी सत्यप्रकाश के गहन स्वाध्याय की अभिव्यक्ति हुई है।

उपर्युक्त ग्रंथों के प्रणयन के अतिरिक्त स्वामी सत्यप्रकाश ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त करने के बाद आर्य समाज को गति प्रदान करने के उद्देश्य से देश-विदेश का व्यापक भ्रमण किया और विश्वविद्यालयों तथा अन्य केन्द्रों में अनेक व्याख्यान दिये। ये सभी व्याख्यान अंग्रेजी भाषा में दिये गये जो पुस्तकाकार रूप में छप चुके हैं किन्तु हिंदी पाठकों के लिए विज्ञान विषयक उनके कुछ महत्वपूर्ण व्याख्यान उपलब्ध नहीं हैं। अतः उनमें से छः व्याख्यानों को अनूदित करके प्रस्तुत किया जा रहा है। ये निबंध स्वामी जी की परिपक्व वैज्ञानिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्वर्गीय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती की प्रथम पुण्य वर्षी के अवसर पर यह लघु संग्रह प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। आशा है इससे जिज्ञासुओं के लिए रुचिकर एवं प्रेरणादायक सामग्री प्राप्त हो सकेगी।

15-12-95 शिवगोपाल मिश्र

भूमिका

सत्यप्रकाश जी का जन्म 24 अगस्त 1905 को हुआ और वे दीर्घायु प्राप्त कर 18 जनवरी 1995 को दिवंगत हुए। प्रयाग उनकी कर्मभूमि तथा तपोभूमि रहा। उन्होंने रसायन विज्ञान में सर्वोच्च उपाधि प्राप्त की और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में लगभग 37 वर्षों तक अध्यापन एवं शोध-निर्देशन करते रहे। 1971 में उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और अन्तिम क्षणों तक आर्य समाज के कार्य में जी-जान से लगे रहे।

वे जन्मजात आर्य समाजी थे। अपने विद्यार्थी जीवन से ही उन्हें वैदिक साहित्य में रुचि थी अतः विद्यार्थी जीवन से लेकर संन्यासी बनने तक जो गम्भीर चिन्तन, मनन एवं स्वाध्याय किया उसी का प्रतिफल था कि उन्हें विज्ञान के साथ ही दर्शन (अध्यात्म) में गहरी रुचि बनी रही। वे एक रसायनविज्ञ होने के साथ वेदों के भी अध्येता एवं अनुसंधित्सु बने। वैदिक साहित्य में जितना भी विज्ञान था, और इस सन्दर्भ में विदेशी विद्वानों ने जो कुछ लिखा उसके विषय में वे लगातार विचार-मन्थन करते रहे। फलस्वरूप वे इस निश्चित निर्णय पर पहुँचे कि गणित, ज्योतिष, रसशास्त्र तथा आयुर्वेद के क्षेत्र में भारत की उपलब्धियाँ अतीव महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने ऋग्वेद काल से लेकर सोलहवीं सदी तक भारत में हुई वैज्ञानिक प्रगति की व्याख्या के लिए कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनमें से निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं—

1. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा 1954
2. प्राचीन भारत में रसायन का विकास 1960
3. Founders of Science in Ancient India 1965 (Two parts)
4. A Critical study of Brahmagupta and his works 1968
5. The Bakhsali Manuscript 1979
6. The Sulba Sutra 1979
7. Coinage in Ancient India 1986.

अपने विदेश भ्रमण के समय स्वामीजी ने इंगलैंड में डॉ० नीढम से भेंट की जिन्होंने प्राच्य सभ्यताओं के संदर्भ में चीन की वैज्ञानिक उपलब्धियों पर

महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा हैं। फलत: स्वामी जी ने विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय उपलब्धियों का पुनरावलोकन किया और इसकी अभिव्यक्ति उन अनेक भाषणों में हुई जो उन्होंने देश तथा विदेशों में 1970-1975 की अवधि में दिये।

प्रस्तुत निबन्ध संग्रह "आर्ष विज्ञान" में स्वामी जी के उन छह महत्वपूर्ण भाषणों का हिन्दी अनुवाद संकलित किया गया है जो उन्होंने बनारस हिंदू विश्व-विद्यालय में तथा अपनी अफ्रीकी यात्रा के दौरान दिये थे। एक निबन्ध 1962 में लखनऊ में दिये गये भाषण का अनुवाद है। इनका हिंदी अनुवाद मेरे शिष्य डा० सुनीलदत्त तिवारी ने किया है।

इन निबंधों के अध्ययन से पता चलेगा कि स्वामी जी विज्ञान के विस्तृत इतिहास की आवश्यकता का अनुभव करते रहे हैं। उनका यह निश्चित मत है कि सोलहवीं सदी तक भारत में विज्ञान के विविध क्षेत्रों में होने वाली प्रगति सकारात्मक रही है किंतु उसके बाद विज्ञान की शिक्षा मानो दब गई। जिसे पाश्चात्य जगत में "विज्ञान युग" कहा गया वह भारत में एक तरह से अन्ध-कारमय युग था और उन्नीसवीं सदी के बाद ही यहाँ वैज्ञानिक जागरण का पुनः सूत्रपात हुआ।

स्वामी जी हिंदू गणित के अनेक पक्षों में से वैदिक काल में जिस तरह से अंकों का प्रयोग सामाजिक जीवन में हो रहा था उसका स्पष्टीकरण करते हैं। वे यज्ञों के फलस्वरूप ज्यामिति के विकास का उल्लेख करते हैं। वे चरक-सुश्रुत के द्वारा औषधि तथा शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में की गई प्रगति का बारम्बार वर्णन करते हैं। वे उन तमाम उपकरणों, यंत्रों तथा संसाधित्रों का भी वर्णन करते हैं जो वैदिक साहित्य में उल्लिखित हैं। वे यह मानते हैं कि भारत में तिथियों के अंकन तथा मापों के मानकीकरण पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया किन्तु वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि आर्य-भट, ब्रह्मगुप्त आदि ने विस्तृत उपपत्ति जाने बिना ही अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणाम प्राप्त किये होंगे।

स्वामी जी वेदों में विकासवाद के भी संकेत पाते हैं किन्तु वे स्पष्ट कहते हैं कि यह डार्विन के विकासवाद से भिन्न था।

स्वामी जी विज्ञान तथा वैज्ञानिक की विशिष्टताओं का वर्णन करते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि श्रम या तपस्या के बिना कोई भी ज्ञान अर्जित नहीं किया जा सकता। वे विज्ञान और धर्म की भी विवेचना करते हैं और

अन्त में कहते हैं कि हमारी समस्याओं का हल अध्यात्मीकृत विज्ञान ही प्रस्तुत कर सकता है ।

स्वामी जी की विशेषता रही है कि वे पुराने पंडितों की सी कट्टरता या हठवादिता से दूर रहकर वैज्ञानिक विधि से तर्क तथा प्रयोग के आधार पर अन्तिम निर्णय देते रहे हैं । अपना मत व्यक्त करते हुए वे आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के अपनाये जाने पर बल देते हैं । वे न्यूटन, आइंस्टाइन आदि के सन्दर्भ में चिन्तन या दर्शन की भूमिका को स्पष्ट करते हैं ।

ये छह निबन्ध वैदिक या आर्ष विज्ञान के समकालिक अध्ययन की आवश्यकता की ओर स्पष्ट संकेत हैं । संस्कृत भाषा तथा उसके प्राचीन वाङ्मय का ज्ञान भारतीय विज्ञानियों को अपने प्राचीन साहित्य के समझने में सहायक होगा ऐसी हमारी भी धारणा है ।

किमधिकम् ।

शिवगोपाल मिश्र
सम्पादक

1. आधुनिक मानव पर विज्ञान का प्रभाव*

आज की शाम किसुमु के सामाजिक केन्द्रीय सभागार में पूर्वी अफ्रीका के विशिष्ट जनों से मिलकर अत्यन्त खुशी हो रही है। मैं आपके सभापति तथा सामाजिक केन्द्रीय अधिकारी वर्ग का अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने मेरा स्वागत किया। मैं देख रहा हूँ कि नवयुवक श्रोतागण मुझसे उस विषय पर सुनने के लिए उत्सुक हैं जो मुझे तब से अति प्रिय रहा है जब से मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन करता रहा हूँ। इससे भी बड़ी बात यह है कि मैंने अपने जीवन में वैज्ञानिक विकास के छः चमत्कारपूर्ण दशकों को देखा है। इतने वर्षों में विज्ञान व प्रौद्योगिकी के विकास पर हममें से कोई भी गर्व कर सकता है। हममें से कइयों के मनों में दो विश्व युद्धों के यादें सजीव हैं—पहला युद्ध वह जो कि समुद्र पर मानव की विजय को बताने वाला था और दूसरा वह जिसे कि सभी मोरचों पर लड़ा गया था—जमीन पर, तरंगों पर और मध्य आकाश में। चरम परिणति तो तब हुई जब युद्ध को तुरन्त समाप्त कराने के लिए सर्वप्रथम मनुष्य ने आणविक हथियार का प्रयोग किया।

दूसरी युग-निर्मायक उपलब्धि थी पृथ्वी का चक्कर लगाने वाले उपग्रह का छोड़ा जाना। अन्तरिक्ष खोजों ने आखिरकार मानव को चन्द्रमा की सतह पर उतार दिया। आप लोग पहले से ही अन्तरिक्ष पर विजय के लिए रूस और अमेरिका के बीच लगी होड़ से परिचित हैं। विगत दो दशक विस्मयजनक और रोमांचकारी रहे हैं। मैं इन वैज्ञानिक प्रगतियों को बहुत ही उत्सुकतापूर्वक देखता रहा हूँ। प्रथम दो दशक तो वायु-पोत, आटोमोबाइलों, वायरलेस (बेतार का तार) और रेडियोसक्रियता की दृष्टि से स्मरणीय हैं। तृतीय और चतुर्थ दशक इलेक्ट्रानिक प्रगति के लिए, कृत्रिम रसायनों के खोज के लिए, विटामिनों व

---

*9 सितम्बर, 1971 को किसुमु सामाजिक केन्द्रीय सभागार, किसुमु (केन्या) में दिया गया व्याख्यान।

हार्मोनों तथा जीवन-पद्धति के रहस्यों पर कार्य के लिए तथा नाइट्रोजन उद्योगों के लिए विख्यात रहे हैं। इस अवधि में दर्शन के नये साधनों यथा क्वांटम-यान्त्रिकी, आइन्सटाइन-बोस-फर्मी-डाइरैक सांख्यिकी, तरंगयान्त्रिकी तथा श्राडिंगर, डाइरैक तथा हाइसेनबर्ग के कार्य की आधारशिला रखी गई। इसी अवधि में नाभिक तोड़ा गया और इन विखण्डनीय प्रविधियों में एक के बाद एक अनेक प्राथमिक कणों को पहचाना गया। भारी जल, समस्थानिक, कृत्रिम रेडियोसक्रियता, भट्टियाँ, त्वरित्र, अर्धचालक, ट्रान्जिस्टर, रेडार, सूक्ष्म तरंगें तथा इसी प्रकार की अन्य खोजें विगत दो दशकों की युगान्तरकारी घटनाएँ रह चुकी हैं जिसमें कि हम रह रहे हैं। किन्तु यह कहानी यहीं नहीं समाप्त होती। शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र होगा, जिसमें कि मानव कृत्यों द्वारा वर्तमान युग में काया-पलट न हुई हो। स्पुतनिक से लेकर संगणक तक और हेलीकाप्टर से लेकर पराध्वानिकी (Supersonics) तक विज्ञान ने प्रौद्योगिकी के सहयोग से लम्बे कदम रखे हैं। मैं यहाँ इनकी विस्तृत व्याख्या नहीं करूँगा। मैं वर्तमान युग को स्वरूप देने वाले आविष्कारों को बताकर आपको उबाना नहीं चाहूँगा। मैं एक-एक करके काँच और मृत्कला युग, हल्की धातुओं के युग, कृत्रिम रेशम युग और प्लास्टिक युग के इतिहास पृष्ठों में भी आपको नहीं ले जाऊँगा। निस्सन्देह इन सारे वर्षों में हम रोमांचकारी जीवन जीते रहे हैं।

इसी प्रकार की युग-निर्मायक उन्नति हमारे सूक्ष्म जगत के क्षेत्र में भी हुई हैं। जीवित कोशिका की कहानी, उत्परिवर्तन का विज्ञान, आनुवंशिक कोड (कूट), आनुवंशिकता के रहस्य और हाल ही में खोजी गई जैव शारीरिक क्रियाओं ने हमारे सामने कवियों तथा दार्शनिकों द्वारा कल्पित अधिक अमूर्त चित्र प्रस्तुत किया है। हम इसके पूर्व अकल्पनीय सूक्ष्मविमाओं की ओर बढ़े हैं। एक ओर मनुष्य माइक्रोमिलीग्राम जितनी मात्रा से कार्य करता है वहीं दूसरी ओर ऐसी क्षिप्र गतिकी की बातें करता है जिन्हें वह एक सेकण्ड के दस लाखवें भाग में निश्चितता के साथ व्यवहार में ला सकता है।

हम न केवल अपनी प्रौद्योगिकी में अपितु कृषि और स्वास्थ्य विज्ञान में भी आगे बढ़े हैं। मनुष्य ने भूख, बुढ़ापा, रोग, कष्ट और मृत्यु पर विजय पाने की कोशिश की है। अब तो सामाजिक शीलाचार, नीतिशास्त्र, व्यष्टि तथा सामाजिक नैतिकता की नई व्याख्या उत्पादन तथा वितरण एवं ऐसी ही अन्य समस्याओं के साथ जोड़ कर की जा रही है। आज मनुष्य स्वतन्त्र व्यक्ति की

अपेक्षा एक संगठित समाज के घटक के रूप में अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। हम प्रतिदिन अपने लिए नयी सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक मूल्यों के नवीन मूल्यांकन की खोज कर रहे हैं। प्रौद्योगिकी और बड़े-बड़े उद्योग, विपुल उत्पादन तथा ऐसे क्षेत्रों के राज्य उपक्रम जो पहले एक-एक व्यक्ति या छोटे समूहों के लिए सुरक्षित थे, उन्होंने हमारी अनेक समस्यायें हल कर दी हैं। किन्तु इसी के साथ इसका दूसरा पक्ष भी है। इस नवीन संसार या कि एक-संसार की चमक-दमक के बीच हर वस्तु इतनी स्वच्छ नहीं है जितनी कि लगती है, उतनी शान्तिदायक नहीं जितनी कि आशा थी, न ही उतनी उत्साहवर्धक है जितनी होनी चाहिए थी।

मैं आपके देश में पिछले दो माह से रह रहा हूँ तथा यह मेरा पहला भ्रमण है किन्तु अल्पकालीन भी है। फिर भी मैंने इस देश और यहाँ के लोगों की कुछ उल्लेखनीय बातें देखी हैं। आपने अपने देश को विदेशी शासन से मुक्त करने हेतु जो संघर्ष किया है, उसकी मैं प्रशंसा करता हूँ। मैं यह भी उत्सुकता-पूर्वक अवलोकन कर रहा हूँ कि राष्ट्र-निर्माण की योजना को लेकर आगे बढ़ने का आप में संकल्प है। अभी 10 या 12 वर्ष हुए हैं जब आपने गुलामी का जुआँ उतार फेंका। मैं उस देश से आया हूँ जो पहले एक शक्तिशाली राष्ट्र था। जब मैं ऐसा कहता हूँ तो मेरा आशय उसके सुदूर अतीत से है। यह शायद उस समय की कहानी है जब संसार इतना बड़ा नहीं था। हमारे पास मानवता का एक छोटा समुदाय था जब सभ्यता का उदय मेरे देश में हुआ। संस्कृति और शान्ति के दूत के रूप में हम भारतीयों ने कठिन परिश्रम किया और धीरे-धीरे हम सुदूर देशों में फैल गये। तब से अनेक देश सत्ता में आये और उन्होंने अपना समाज विकसित किया। उनके पास अपने युग का विज्ञान था, उन्होंने अपने लिए अनेक क्रियाविधियों की तकनीकों और अर्धतकनीकों की खोज की। भौगोलिक परिसीमाओं से विलग होकर उन्होंने अपने लिए भाषा, कला और व्यापार की कुछ निश्चित शैलियाँ विकसित कीं। हाल ही में मैं आपके कुछ संग्रहालयों में गया जिसमें आप लोगों ने अपने पुराइतिहास, भित्तिचित्र, चित्र और वेशभूषा, उद्योग और आत्मरक्षा तथा युद्ध के हथियारों को सुरक्षित कर रखा है। मैंने प्रो० लीकी द्वारा अपने दावे के समर्थन में दिये गये वक्तव्य और प्रमाणों को पढ़ा, जिसमें उन्होंने इस बात का दावा किया है कि सर्वप्रथम सुसंस्कृत मनुष्य केन्या-तंजानिया की सीमा के आस-पास कहीं उत्पन्न हुआ था। आपके वन्य पशु मन को मोहने वाले हैं। आपके राष्ट्रीय पार्क की सैर आनन्ददायक है।

सम्पूर्ण अफ्रीका में पाये जाने वाले प्रागैतिहासिक काल के विशाल जीवों के कंकाल यहाँ के विभिन्न कल्पों के प्राकृतिक इतिहास के निर्माण में काफी महत्वपूर्ण हैं।

केन्या और अन्य पूर्वी अफ्रीकी देशों के नवयुवकों को राज्य की गतिविधियों में, विशेषकर उच्च वैज्ञानिक शिक्षण में, हाथ बँटाते देखकर सन्तोष होता है। औद्योगिक प्रतिष्ठान भी तेजी से बनते जा रहे हैं। मैंने आपके अनेक संस्थानों, विश्वविद्यालयों की प्रयोगशालाओं तथा तकनीकी संस्थानों को देखा है। आपके देश में बड़े पैमाने पर कृषि होती है। आप अपने उद्योगों और कृषि के लिए आधुनिक विधियों को आसानी से ग्रहण कर सकते हैं। आपको लाभ यह है कि आपने आदिम जैसी संस्कृति से छलांग मार कर सीधे आधुनिक तकनीकों को अपनाया है और आपको उन बीच की सीढ़ियों को पार नहीं करना पड़ा जिन्हें विकसित तथा अर्धविकसित राष्ट्रों को तै करना पड़ा है। उदाहरण के लिए, आप लोग 10-15 साल पहले खच्चरों और अन्य जानवरों की सहायता लेते हुए घुमन्तू जीवन बिताते थे। लेकिन अब आप साइकिल, मोटरसाइकिल, ट्रक, बस और कारों का उपयाग कर रहे हैं। शताब्दियों से क्रमशः हमने जो कुछ भी वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति की है आप उसका आनन्द उठा रहे हैं और धीरे-धीरे इन सारे कार्यकलापों में आप सक्रिय भागी वन जावेंगे। मैंने आपके विश्वविद्यालय में देखा कि किस तरह से उस विज्ञान संकाय में स्नातकोत्तर विभाग पुष्ट हो रहे हैं। जब हम आपको अपने-अपने वैज्ञानिक संस्थानों और उन स्थानों के प्रबन्ध में जहाँ वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग (प्रसारण, दूरदर्शन, कार्यशालाएँ, ईंधन और ऊर्जा संयंत्र) होता है, लगे देखते हैं तो हमारा मन प्रफुल्लित हो उठता हैं तथा आपकी क्षमता और तीव्र विकास की उत्कंठा के प्रति प्रशंसाभाव उत्पन्न होता है। हमें इस बात की भी प्रसन्नता है कि आप इतने कम समय में विश्व कार्यकलापों के सक्रिय भागीदार बन चुके हैं। यदि आश्चर्य नाम की वस्तु है तो हम कह सकते हैं कि वह आपके देश में है। लेकिन आपको एक बात याद रखनी है कि विज्ञान, प्रौद्योगिकी, उद्योग और कृषि में आपने जो कुछ भी पाया है वह आपका नहीं है। यह उन बाहरी लोगों के परिश्रम का फल है जिन्होंने इस कार्य के लिए अपने को समर्पित कर दिया है और जिन्होंने वर्तमान विज्ञान की नींव रखी है। आपकी सभी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं के लिए मेरा शुभाशीर्वाद।

आधुनिक काल में कोई भी राष्ट्र विज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता। तपस्या, कठिन श्रम तथा सद्भावपूर्वक विज्ञान का अनुशीलन होना है। हर देश की एक सुदृढ़ वैज्ञानिक नीति होनी चाहिए। तीन सौ साल पहले जब इंग्लैण्ड में 'रायल सोसाइटी' की नींव रखी जा रही थी तो वैज्ञानिकों को उनकी विलक्षणता के कारण सनकी प्राणी माना जाता था तथा कोई भी उन्हें गम्भीरता से नहीं लेता था। कोई उनकी चिन्ता भी नहीं करता था। कुछ परखनलियाँ, बीकर और फ्लास्क, चुम्बक, लेन्स, सामान्य सूक्ष्मदर्शी अथवा दूरदर्शी, तुला-मशीन और रबर की नली—यही उनके आस-पास की सम्पूर्ण सम्पत्ति थी जिसमें बाद में चलकर छोटा वोल्टा सेल और कुछ तार भी जुड़ गये। धीरे-धीरे उनमें से कुछ ने स्वयं काँच के उपकरण बनाये और जब गैस उपलब्ध हो गयी तो उन्होंने अपने बर्नर की खोज कर ली और स्प्रिट लैम्प को हटा दिया। उनकी प्रयोगशाला के ये ही उपकरण थे। जब दार्शनिकगण अमूर्त वस्तुओं के विषय में बातें करने में लगे थे जो स्वर्ग से और अदृश्य से सम्बन्धित थीं तो यह समूह महत्वहीन छोटे-छोटे प्रेक्षण करता रहा। मैं एक उदाहरण दूँगा। उन्हें एक अति सामान्य अनुभव हुआ कि जब दबाव दुगुना हो जाता है तो गैस का आयतन घटकर आधा हो जाता है और जब ताप बढ़ाया जाता है तो गैस का आयतन तापमान के अनुपात में बढ़ता है। बॉयल, चार्ल्स, गेलूसैक, डाल्टन द्वारा किये गये इस प्रेक्षण से गैसों की सम्पूर्ण गतिकी की आधारशिला रखी गयी और अन्त में इससे अणु तथा परमाणु सिद्धान्त की नींव पड़ी। यह प्रयोग भारतीय अथवा यूनानी अणु वैज्ञानिकों के प्रयोग से सर्वथा भिन्न था। तापमापी, दाबमापी, आयतनमापी तथा 1 से 0.1% तक शुद्ध माप देने वाली सामान्य रासायनिक तुला से दूरगामी परिणाम निकले। मानों क्षितिज पर नया प्रमाणवाद का उदय हुआ हो। पुराने तर्क, जो यूरोप में युक्लिड की ज्यामिति, प्लेटो और सुकरात के दर्शन और भारत में गौतम के 'न्याय' दर्शन के रूप में अपनी पराकाष्ठा प्राप्त कर चुके थे, अब वे सत्य तक पहुँचने के एकमात्र साधन नहीं रह गये। बेकन और अन्य लोगों द्वारा प्रस्तुत प्रायोगिक और आगमनात्मक तर्क ने ज्ञान की नयी वीथियाँ खोल दीं। पुराने दार्शनिक बिचारों के विपरीत यह नयी वैज्ञानिक प्रणाली भौतिक तथा जैविक घटनाओं की खोजबीन में दिन-प्रतिदिन अधिक विश्वसनीय तथा तथा दूरगामी परिणाम देने वाली बन गई।

अभी लगभग दस साल पहले (1961) मैं लन्दन की 'रायल सोसाइटी' के त्रिशताब्दी समारोह में सम्मिलित हुआ था। अब से तीन सौ साल पहले

इसकी बैठकें किसी छोटे कोने में किसी ऐसे लार्ड के घर होती थीं जो प्रतिभागियों को चाय पिला सके। प्रतिभागियों की संख्या भी कम थी। यूरोप के महाद्वीप में हमने कई केन्द्रों पर ऐसी ही जागरूकता देखी। जर्मनी तथा फ्रांस की प्रयोग-शालाओं में कुछ पुरानी परम्पराएँ मिलीं। रूढ़िवादी ईसाइयत की सीधी मुठभेड़ प्रगतिवादी तत्वों से हुई। पारम्परिक दर्शन नई कार्य पद्धति द्वारा प्रतिस्थापित हो रहा था। प्रारम्भ में तो वैज्ञानिकों का मजाक उड़ाया जाता था, उन्हें सनकी और दैवी साम्राज्य में विघ्न डालने वाला माना जाता था। लेकिन इससे विज्ञान के क्षेत्र के विनीत कार्यकर्ता, प्रेक्षक एवं प्रयोगकर्ता विचलित नहीं हुए। जो पहले प्राकृतिक दर्शन कहा जाता था धीरे-धीरे वही विज्ञान कहा जाने लगा।

विज्ञान शब्द का अर्थ है ज्ञान या ज्ञान जो सिमट कर एक पद्धति बन गया हो। पुरानी शब्दावली में सात लौकिक विज्ञान थे—व्याकरण, अलंकार, तर्क, संगीत, ज्योतिष, रेखागणित और अंकगणित और सात दैवी विज्ञानों के अन्तर्गत नागरिक कानून, ईसाई कानून, व्यवहारिक अयात्म, भक्तिमय अध्यात्म, कट्टरवादी अध्यात्म, रहस्यमय अध्यात्म और शास्त्रार्थी अध्यात्म। यूरोप में लोगों का यह विश्वास था कि पुराने लोग (या तो यूनानी दार्शनिक अथवा ओल्ड टेस्टामेन्ट के लेखक) ही सारे ज्ञान से परिचित थे। वे अपनी सन्ततियों को इन लिखित बातों का पालन करने के लिए कहते थे या पुरानों द्वारा कही गयी उन बातों की व्याख्या की जाती थी जो असंदिग्ध थीं। आक्स-फोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों की स्थापना दैवी शब्दों की व्याखया करने और देवी उपदेशों (इन्जिल) का प्रसार करने के लिए की गयी। इस प्रकार प्रारम्भ में सारे यूरोप में विश्वविद्यालय कट्टर विचारधाराओं के केन्द्र थे तथा इनका उद्देश्य केवल अध्यात्म की शिक्षा देना था। नये युग या 'विज्ञान युग' के आने के बाद ही सार्थक विज्ञानों को मान्यता दी गई जिससे कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड ज्ञान के हर क्षेत्र में आगे हैं। विज्ञान सभी प्रकार की रूढ़ियों, पूर्वाग्रह तथा अपंगताओं से लड़ने के लिए है। यूरोप में इसे अध्यात्म के नाम पर फैले अन्धविश्वास और कट्टरता के विरुद्ध लड़ना पड़ा। आप जानते ही हैं कि अन्ध-विश्वास कठिनाई से समाप्त होते हैं तथा प्रकृति में छिपे सत्यों को उद्घाटित करने के लिए विज्ञान को अस्त्र के रूप में स्वीकार करने में काफी समय लग गया। कई बार विज्ञान की धर्म से भिड़न्त हुई। वैज्ञानिकों को कई बार नास्तिक करार दिया गया। उदाहरणार्थ, जब पृथ्वी को गेंद की तरह माना गया (न कि

(न कि सूर्य को पृथ्वी का चक्कर लगाने में), जब औरतों को पुरुषों के बराबर स्वतन्त्रता देने की बात की गयी (न कि आदम से ली गयी पसली से उत्पन्न) तथा जब प्रसव के समय महिलाओं को होने वाले दर्द से छुटकारा देने के लिए संवेदना-शून्य करने वाली दवाओं की खोज की गयी (उस आदेश के विरुद्ध कि महिला को प्रसव पीड़ा झेलनी होगी)। इसका चरम विन्दु तो तब पहुँचा जब जातियों की उत्पत्ति से सम्बन्धित उद्विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया।

गिरजाघर अन्धविश्वासों से चिपके रहे, कई बार उसने वैज्ञानिक विधियों से खोजे गये दोटूक सत्यों के साथ समझौता भी करने की दूरदर्शिता की। बाइबिल के शब्दों की व्याख्या तर्कों और कारणों के अनुकूल बनाने के लिए बदल दी गयी। वैज्ञानिक अपने विनम्र ढंग से सत्य की खोज की नई विधियों को विकसित करते रहे जो दुहराये जाने वाले सामान्य प्रयोगों और प्रेक्षणों पर आधारित थीं। रसायन के क्षेत्र में सैद्धान्तिक विचारों से वैज्ञानिक नये-नये रसायनों का संश्लेषण कर सके और कार्बनिक पदार्थों की संरचना स्थापित कर सके। संश्लेषित नील ने प्राकृतिक नील को बाजार से बाहर कर दिया। अकार्बनिक पदार्थों से वोहलर द्वारा यूरिया के संश्लेषण ने कार्बनिक और अकार्बनिक यौगिकों के बीच की विशेषता को समाप्त कर दिया। एन्टीबायोटिक और अन्य दवाओं ने हमारे पुराने विचारों में क्रान्ति ला दी।

वैज्ञानिक युग की विशेषता है पुराने परिचित पारिभाषिक शब्दों को मात्रात्मक नाम देना। न्यूटन की यांत्रिकी से शक्ति, दबाव और संवेग को मात्रात्मक रूप मिला। भार×त्वरण=बल, भार×वेग=संवेग, संवेग×वेग (या दूसरे शब्दों में बल×दूरी है)=कार्य या ऊर्जा है। आज ये परिभाषाएँ हमारे लिए इतनी स्पष्ट हैं पर जिसने भी सर्वप्रथम ये परिभाषाएँ दी होंगी वह निश्चित रूप से प्रेरित व्यक्ति रहा होगा। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम की सुन्दरता उसके गणितीय सूत्रण में तथा आइन्स्टाइन के सापेक्षता सिद्धान्त की सुन्दरता भी इसी में है। यह भावात्मक कल्पना का मात्रात्मक सूत्रण है जो सूक्ष्म तथा विस्तृत क्षेत्र में प्रयोग किये जा सकते थे। यह पुरानी विचारधाराओं पर वैज्ञानिक दर्शन की विजय थी जिसे वास्तविक संसार में प्रमाणित किया जा सकता था।

विज्ञान को अन्धविश्वासों तथा पुराणपंथी से लड़ना था। सभ्य या असभ्य हर प्रकार के देश के लोगों में कुछ न कुछ अन्धविश्वास होते हैं। हर युग का अपना अन्धविश्वास है। ये अन्धविश्वास किसी देश की जीवन्तता को नीचे लाने

वाले हैं। ये बड़ी कठिनाई से मरते हैं तथा एक पीढ़ी से दूसरी में स्थानान्तरित होते हैं। ये उन गलत परिणामों पर आधारित होते हैं जिनके वास्तविक कारण की खोज न की गयी हो। एक अन्धविश्वासी दिमाग चतुर और स्वार्थी लोगों द्वारा किये गये शोषण के प्रति सहनशील होता है। मैं कुछ अन्धविश्वासों के बारे में बताऊँगा जो हमारे समाज में परम्पराओं द्वारा चले आ रहे हैं। ये हैं—जादू और टोना, ज्योतिष, हस्तरेखा विज्ञान, अंक विज्ञान, अच्छे और बुरे शकुन आदि। ये हमारे आधुनिक समाज के लिए अभिशाप हैं। इनमें से बहुत से अन्ध-विश्वास हमारे अज्ञान और भविष्य की आशंका के कारण होते हैं। हमारे भविष्य को निश्चित करने वाले अनेक कारक तथा प्राचल हैं जिनकी गणितीय भविष्यवाणी असम्भव है और इन परिस्थितियों में सहज या भोले-भाले अन्ध-विश्वासी स्वभाव वाले व्यक्ति का शोषण होता है।

अनेक अंधविश्वास प्राकृतिक सिद्धान्तों के न जानने से उत्पन्न होते हैं। आदिमानव के पास चन्द्रमा की कलाओं, चन्द्र और सूर्यग्रहण, धूमकेतुओं के प्रकट होने, उल्का खण्डों की वर्षा होने, यहाँ तक की सूर्य और चन्द्रमा के निकलने और डूबने तथा मौसम में परिवर्तन आदि के बारे में कोई व्याख्या नहीं थी। इसलिए उसने इन सबके साथ कुछ विश्वसनीयता जोड़ दी। विज्ञान के उदय होने के साथ इन विश्वसनीयताओं को विलुप्त हो जाना चाहिए। स्वार्थी धर्मपन्थी लोग जनता के अज्ञान पर ही पल्लवित होते हैं। मैं किसी विशेष चर्च, सम्प्रदाय या समुदाय के बारे में बातें नहीं कर रहा हूँ। जैसे कोई अंधा अंधों का नेतृत्व करे, वैसे ही इस वर्ग के उपदेशकों, या गुरुओं ने लम्बे समय से अपने अनुयायियों का शोषण किया है। विज्ञान के पास उनको देने के लिए संदेश है। यह संदेश है तार्किकता का। निश्चित रूप से हममें से किसी के पास पूर्ण ज्ञान नहीं है किन्तु मनुष्य को खोजबीन करने की शक्ति मिली है।

विज्ञान कतिपय स्वयंसिद्ध कल्पनाओं पर आधारित है। हम जिस संसार में रह रहे हैं वह घटनाओं की राशि है जो अपने सही स्थान पर हैं और यह सार्वभौम मूलभूत नियम कार्य-कारण सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। यह संसार संयोग-वश नहीं बन गया। इसकी एक पूर्ण संरचना है तथा यह योजना-आधारित है। संसार अचर (स्थैतिक) नहीं है, यह गतिशील है। इसकी स्थिरता स्थैतिक संतुलन में नहीं है, यह गतिशील संतुलन को पुष्ट करता है। संसार निरुद्देश्य भी नहीं है, इसकी हर धड़कन एक दैवी और परोपकारी उद्देश्य से प्रेरित है। यह

जगत संतत परिवर्तनशील है और यह परिवर्तनशीलता इसकी वास्तविकता है। थोड़ा सा विनाश पड़ोस में ही सृजन को लाता है। इस तरह विनाश निर्माण की तरह ही उदार है। मृत्यु और क्षय से जन्म और वृद्धि होती है और यह चक्र चलता रहता है। संसार पूर्ण मितव्ययिता के नियम पर आधारित है, इसका एक ग्राम भी फिजूल नहीं जाता है और इस प्रकार प्रकृति में कार्बन, नाइट्रोजन और फास्फोरस के चक्र चलते रहते हैं। इन चक्रों के नियम से तथा मितव्ययिता के नियम के अन्तर्गत यदि एक स्थान पर ऊर्जा का विनाश होता है तो दूसरे स्थान में समान भार की ऊर्जा प्रकट होती है। यहाँ पर थोड़ा सा लाभ वहाँ थोड़ी सी हानि उत्पन्न करता है। इन चक्रों के नियम तथा मितव्ययिता ने हमें संरक्षण के तीन आधारभूत नियम प्रदान किये हैं—द्रव्यमान का संरक्षण, ऊर्जा का संरक्षण तथा संवेग का संरक्षण। पूर्ण मितव्ययिता पदार्थ की अविनाशिता का प्रतिफल है (यहाँ पदार्थ किसी पदार्थ विशेष के लिए नहीं बल्कि व्यापक रूप में है)। पुनः हमारी वैज्ञानिक खोजें इस स्पष्ट भाव पर आधारित हैं कि मनुष्य को प्रकृति के रहस्यों को खोज निकालने की क्षमता मिली है। वह जितना ही इन रहस्यों की खोज करेगा उतना ही पावेगा कि अनखोजा भाग अधिक है। इस तरह हमारी वैज्ञानिक खोज का अन्त नहीं है। विद्या की देवी (सरस्वती) उन्हीं के समक्ष प्रकट होती है जो प्रेम, आदर तथा श्रद्धा के साथ उसका वरण करते हैं। वह अपना सौन्दर्य क्रमशः अपने वरणकर्ता के समक्ष उद्घाटित करती है। वह चिर नवीन, मोहक है, उसकी सुन्दरता हमेशा अनुप्राणित करती है। यह सुन्दरता न नष्ट होती है, न मुरझाती है, न ही मरती है। विज्ञान-बाला का ऐसा है यौवन, और ऐसी है विद्या की देवी (सरस्वती)।

मैं यह पूर्ण दावे के साथ कह सकता हूँ कि जो बात आपको संतुष्ट नहीं कर सके, यदि आप उस पर विश्वास करते हैं तो इसका अर्थ है कि आपने तर्क करने के सर्वोपरि गुण का परित्याग कर दिया है, जो मनुष्य को प्रदान की गई एकमात्र मशाल है। वैज्ञानिक जन नास्तिक नहीं होते। वैज्ञानिक आस्तिकता शाश्वत नियम की इस दैवी सार्वभौमिकता को अंगीकार करना है तथा इसके प्रति आदर-भाव रखना है।

यदि एक रसायनज्ञ या भौतिकीविद् के रूप में मैं यह नहीं समझता कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में किये गये प्रयोग काम्पाला, नैरोबी, लन्दन या न्यूयार्क में कोई अर्थ नहीं रखते हैं तो मैं प्रोफेसर पद स्वीकार नहीं करता। मेरे

प्रयोग तभी अर्थ रखते हैं जब वे सच हों (पुन: करने योग्य भी) तथा मास्को, पिकिंग या टोक्यो की प्रयोगशालाओं में भी प्रमाणित हों। प्रयोग के पुन: करने हेतु कोई समय का बन्धन भी नहीं है। यदि प्रयोग और परिणाम हर वर्ष, दस-दस वर्ष में, सौ-सौ वर्षों में परिवर्तित होते रहें तो यह विज्ञान नहीं है। मेरे प्रेक्षण गलत हो सकते हैं, उनसे प्राप्त मेरे निष्कर्ष अतार्किक और गलत हो सकते हैं, मेरी प्रायोगिक तकनीक में अशुद्धि हो सकती है, हमारे तर्क दोषयुक्त तथा अनिष्कर्षणीय हो सकते हैं लेकिन एक वैज्ञानिक की आस्था अपनी इस मान्यता में निहित होती है कि प्रकृति सभी कालों और देशों के लिए एक सी है। समान पर्यावरण और परिस्थिति में प्रकृति समान कार्य करती है। प्रकृति में कोई बदलाव नहीं है, वह हमी हैं जो अपने ज्ञान और समझ में अपूर्ण हैं। वैज्ञानिक की यही प्रवृत्ति उसे विज्ञान को समर्पण, स्वार्थरहित भावना से आगे बढ़ाने योग्य बनाती है।

एक वैज्ञानिक जिस रूप में देखता है, जिस तरह समझता है और जैसा वह सोचता है, वह सत्य के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध है। अपने मार्ग में वह सत्य की स्थापना करने के अतिरिक्त अन्य किसी विचार से प्रेरित नहीं होता। वह सत्य की व्याख्या करता है। अपनी व्याख्याओं में वह स्पष्ट और असंदिग्ध रहने का प्रयास करता है। वह शब्दों से खेल नहीं करता, वह उन शब्दावलियों को परिभाषित करता है जिनका वह प्रयोग करता है। वह अपने सत्यों को निर्भय होकर व्यक्त करता है। वह इस बात की चिन्ता नहीं करता कि अपनी मान्यताओं को वह अकेले ही मानने वाला है। उसकी खोज के विषयों पर मतदान नहीं कराया जा सकता। यह हाथ उठाने की बात नहीं है जिससे किसी बात को तय किया जाता है। एक वैज्ञानिक उन सभी खोजियों के प्रति आदर-भाव रखता है जो इस क्षेत्र में पहले ही कार्य कर चुके होते हैं लेकिन वह उनकी सभी बातों को मानने के लिए बाध्य नहीं है भले ही वे उसके गुरु, उपदेशक अथवा उच्च पदासीन वैज्ञानिक हों। यही नहीं, वह अत्यन्त विनीत होता है और इस विनयशीलता का तकाजा है कि जहाँ भी वह गलत हो यदि किसी अन्य क्षेत्र से सचाई आती प्रतीत हो तो वह उसे स्वीकार करे। कम वय वाला भी वैज्ञानिक बहादुरी से खड़ा रहता है तथा अपने पूर्वगामियों द्वारा अपने समय में दिये गये विचारों में क्रान्ति लाने के लिए प्रयास करता है और उसके वरिष्ठ कार्यकर्ता नि:संकोच अपने कनिष्ठों के विचारों को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार समय बीतने पर एक कार्यकर्ता पुराना हो जाता है, वह उस क्षेत्र में, जिसमें वह कार्य

कर रहा होता है, जिसमें वह कभी अग्रगामी था और अपने छोटे कार्य के लिए उच्चतम पुरस्कार और पहचान प्राप्त चुका होता है, समय के साथ उस क्षेत्र में नहीं रह पाता। इस तरह एक वैज्ञानिक गलत हो सकता है किन्तु वह अंधविश्वासी या हठधर्मी नहीं होता

वैज्ञानिकों की इस प्रवृत्ति को अब अन्य शास्त्रों के लोगों ने भी अपनाया है। उदाहरणार्थ समाज विज्ञान, भाषा विज्ञान और कुछ हद तक दर्शन के क्षेत्र में भी। एक वैज्ञानिक के उपकरण, उसके कार्य का ढंग, उसका प्रमाणवाद आदि अन्य विचारों द्वारा अपने क्षेत्र में उपयोग किये जा रहे हैं और इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि हम एक 'वैज्ञानिक युग' में रह रहे हैं। ज्ञान और उसका प्रयोग दोनों असीमित हैं इसलिए हमारी उपलब्धियाँ अन्तिम नहीं हैं। हमें पता नहीं कि यह विज्ञान हमें कहाँ ले जायेगा। विज्ञान ने मनुष्य के लिए पहले ही बहुत कुछ दे दिया है जितनी की आशा की जाती थी। मनुष्य अब पहले से अधिक शक्तिशाली है।

परन्तु विज्ञान की यह दैत्यानुरूप प्रगति हमारे लिए नित्य नयी परेशानियाँ उत्पन्न कर रही है। हर समाधान नयी समस्या को जन्म दे रहा है। हमारे स्वचालित वाहनों ने घनी आबादी वाले शहरों में वायुप्रदूषण की समस्या पैदा कर दी है, कारखानों और उद्यमों ने अपने अपशिष्टों को नदियों में डालकर जल-प्रदूषण की समस्या खड़ी कर दी है, परमाणुविस्फोट वाले क्षेत्रों में रेडियो-सक्रिय अवशेष, ने रेडियोसक्रियता जैसी समस्या उत्पन्न कर रखी है। कई देशों में प्रौद्योगिकी से बेरोजगारी की समस्या उठ खड़ी हुई है। आधुनिक जन-स्वास्थ्य और पोषण विज्ञान ने जीवन प्रत्याशा को बढ़ा दिया है लेकिन दीर्घायुष्य होने तथा मृत्यु और रोगों पर आंशिक विजय होने से जनसंख्या अनियन्त्रित रूप से बढ़ती जा रही है। हमारी भावी पीढ़ी खतरे में है क्योंकि हमारी पृथ्वी के संसाधन सीमित हैं। अगली एक या दो शताब्दियों में बढ़ने वाले लोगों का भरण-पोषण आसान नहीं होगा।

हमारी संस्कृति ने विशाल समुद्र को भी प्रभावित किया है और अब समुद्री जीवन भी खतरे में हैं। समुद्री किनारों के जल में घुलित आक्सीजन की मात्रा इस शताब्दी के आरम्भ की अपेक्षा बहुत कम है। यही कारण है कि हम अब बहुत कम मात्रा में तथा बेकार किस्म की मछलियाँ जल से प्राप्त कर पा रहे

हैं। पहले समुद्र में गोता लगाने वाले यह कहा करते थे कि समुद्री जल जीवन में धनी तथा अपने खाद्य के मामले में भी धनी है। यह स्थिति आज बिल्कुल भिन्न है। कुछेक उदाहरणों के तौर पर—हडसन और राइन नदी में गिरने वाला मल-जल तथा औद्योगिक स्राव, भूमध्य सागरीय किनारों का कूड़ा, फिलीपाइन टूना तथा भूमध्यसागरीय सोर्डफिश में पारे का एकत्रण, संसार के प्रक्षेत्रों से बहकर डी० डी० टी० का अंटार्कटिका के पेंग्विना में एकत्र होना, जहाजों द्वारा तेलों के बहि:स्राव से खराब होते किनारे, हमारे स्वचालित वाहनों से निकला धुँआ, वनस्पतियों तथा फसल अवशिष्टों के जलने से निकला धुँआ—ये सब हमारे जीवन के तन्त्र के अंगस्वरूप वायुमण्डल और सागरों को प्रदूषित कर रहे हैं।

प्रतिदिन की समस्याओं के समाधान में बैज्ञानिक विचारों के सम्प्रयोग से हमें नई नई समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। हम ऊहापोहों में फँसे हुए हैं। मैं उदाहरण के लिए जीवनाशी समस्या को लूँगा। जीवनाशी जहरीले रसायन हैं लेकिन कुछ मामलों में मानव के लिए ये वरदान सिद्ध हुए हैं। ये निश्चित रूप से खतरे से मुक्त नहीं। इनकी अनुपस्थिति में पौधे, जानवर तथा मनुष्य अनेक प्रकार की महामारियों से ग्रसित रहेंगे और फसलों, फलों, जंगलों तथा फार्म के जानवरों के लिए नाशीजीव (पेस्ट) खतरनाक बने रहेंगे। इसलिए जीवानाशियों का उपयोग लम्बे समय तक कीटों तथा रोगों की समस्या हल करने हेतु कृषि में उपयोग होता रहेगा। सावधानी से उपयोग करने पर भी जीवनाशी कई तरीकों से, उदाहरण के लिए, दीमक, कटुआ आदि या मिट्टी में बीज सुरक्षा हेतु डाले गये क्लोरीनीकृत हाइड्रोकार्बन का उपयोग होने और अनुपचारित मृदा में अपवाह द्वारा उनके पहुँने तथा हवा द्वारा कणों के पहुँचने से मिट्टी में पहुँचते हैं। ये आर्गेनोक्लोरीन जीवनाशी मिट्टी में लम्बे समय तक बने रहते हैं—डीडीटी, अल्फा बी एच यू., डाईएल्ड्रीन के अर्धजीवन क्रमश, 2·5 से 5, 1·5 और 0·5 से 4.0 वर्ष हैं।

ये जीवनाशी मृदा से पेय जल या खाद्य फसलों में चले जाते हैं। उदाहरण के लिए 1/2 किग्रा०/एकड़ की दर से उपचारित एल्ड्रीन से आलू, मूली और गाजर में क्रमश: 0.03 और 0.05 भाग प्रतिदश लक्षांश (पी पी एम) अवशेष पाया गया है। यू० एस० ए० में आठ राज्यों के 67 फार्मों पर किये गये सर्वेक्षण में पाया गया कि आर्गेनोक्लोरीन कीटनाशक (डी डी टी, डी डी ई, एल्ड्रीन, एन्ड्रीन, हेप्टाक्लोर, हेप्टाक्लोर-एपोक्साइड और गामा-बीएचसी (19·1 पी पी एम तक

(औसत 1·5 पी वी एम०) मिट्टी में, 159·4-पीपीएम (औसत 13·8) केंचुए में औसतन 0·6 3·5 और 89 पी पी एम क्रमशः बीटल लार्वा, घोंघे और स्लग में पाया गया है। लीचेनबर्ग और साथियों (1970) ने बताया कि अमेरिका में 1964-68 से किये गये सर्वेक्षण के अनुसार सतही जल में यह अवशेष 0·05 माइक्रोग्राम/लीटर तक पहुँच गया जो फेडरल कमेटी द्वारा निर्धारित जल गुणवत्ता सीमा से अधिक है। कुओं के जल भी संदूषित पाये गये। कुछेक सन्दर्भों में यह औद्योगिक स्रावों के सतही निःसरण (सीवेज) से हुआ है। फ्लोरिडा में यह कृषि में पेराथियान के अधिक इस्तेमाल से है।

प्रदूषित क्षेत्रों में जीवनाशी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रदूषित क्षेत्र के पौधों, इन पौधों को खाने वाले जानवरों, मछलियों, सीपों, क्रे फिश तथा लाबस्टर या इसी प्रकार के अन्य जानवरों के माध्यम से मनुष्य के शरीर में पहुँचते हैं। वास्तव में ये जीवनाशी मछलियों में हजारों, लाखों गुना सान्द्रिता मात्रा में खाद्य शृंखला द्वारा आ सकते हैं। इस जैविक चक्र पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। मैं यहाँ उन जीवनाशियों के बारे में नहीं बातें कर रहा हूँ जो हवा में, चिड़ियों में, जानवरों में या घरेलू जानवरों में, चारे में, सलाद, सब्जियों, फल, खाद्यान्न, मछली या शहद में प्रवेश करते हैं। जीवनाशी प्रदूषण विकसित देशों में एक गम्भीर समस्या बन गया है। अमेरिका में इसका अध्ययन सूक्ष्मता से किया जा रहा है। मैं हर प्रकार के प्रदूषण—जल, वायु और खाद्य—को 'अमेरिकन रिव्यु' में प्रकाशित (1972) पैथालोजी और माइक्रोबायोलाजी विभाग के प्रो० रेने डुबोस द्वारा प्रस्तुत लेख के निष्कर्ष से समाप्त करूंगा।

"औद्योगिक क्रांति के आरम्भ से ही रसायन संयन्त्रो से निकलने वाली वाष्प और कोयले से उत्पन्न प्रदूषकों के सम्पर्क में उत्तरी युरोप के निवासी आते रहे हैं जिन्हें अटलांटिक जलवायु के प्रभावित होने के कारण आपत्तिजनक माना गया। लेकिन खराब मौसम तथा प्रदूषण के लम्बे अनुभव से उत्तरी यूरोप के लोगों ने शारीरक प्रतिक्रिया विकसित कर ली है और इस निराशाजनक पर्यावरण को खुशी खुशी स्वीकार लिया है।

"लेकिन उन लोगों के श्वसन तन्त्र में भी वायु प्रदूषकों का प्रभाव दिखाई देता है जो अपने आपको ऐसे क्षोभक वातावरण के अनुकूल बना चुके हैं। परिणामतः ग्रेट ब्रिटेन में क्रानिक श्वसनतन्त्रीय बीमारियाँ ही चिकित्सा की

समस्या बन चुकी हैं। ये तीव्र गति से अमेरिका में बढ़ रही हैं तथा उन सभी क्षेत्रों में बढ़ेंगी जहाँ पर औद्योगीकरण हो रहा है। इस बात के साक्ष्य हैं कि वायु प्रदूषण से अनेक प्रकार के कैन्सर तथा वाहिका तन्त्र के रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

"वायु प्रदूषकों के विलम्बित प्रभाव उन विभिन्न प्रकार की चिकित्सीय समस्याओं के लिए आदर्श बनेंगे जो अन्य प्रकार के पर्यावरणीय प्रदूषकों से उत्पन्न होंगे। लोग इस बात पर बल देंगे कि वायु, जल और खाद्य प्रदूषण के विषैले प्रभाव से बचने हेतु पर्याप्त नियन्त्रण किये जायँ। लेकिन वे शीघ्र ही पर्यावरणीय प्रदूषकों की स्वल्प सान्द्रता सहन करने लगेंगे जो उनके सामाजिक और आर्थिक जीवन में बाधा नहीं डालेंगे। विषैले तत्वों से लम्बे समय तक सम्पर्क से अनेक प्रकार के रोग-लक्षण उत्पन्न होंगे जिन्हें तुरन्त नहीं पहचाना जा सकता और हो सकता है कि अगले कई दशकों तक न पहचाना जा सके।"

प्रदूषण की समस्या से लड़ने हेतु सामूहिक और व्यक्तिगत प्रयास अपेक्षित हैं। पर्यावरण को बचाने हेतु मनुष्य सामूहिक प्रयास को स्वीकार करेगा। गलियों की गन्दगी साफ रखना, जलापूर्ति को फिल्टर करना और क्लोरीनीकृत करना, खाद्य उत्पादों की शुद्धता पर ध्यान देना, सार्वजनिक स्थानों पर साफ हवा सुनिश्चित करना—कुछ ऐसे उपाय हैं जिन्हें सामूहिक रूप से, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बाधा पहुँचाये बिना सम्पन्न किया जा सकता है। लेकिन कोई भी उपाय जो व्यक्तिगत रूप से किया जाता है वह नकारा जा सकता है। लगभग हर व्यक्ति अधिक भोजन करने, शारीरिक मेहनत न करने, लगातार धूम्रपान करने, नशीली दवाओं के अधिक सेवन, प्रदूषण से लगातार सम्पर्क, शोर तथा लोगों से लगातार सम्पर्क के खतरों से परिचित है। पर्यावरण से उत्पन्न खतरे प्राय: इतने अप्रत्यक्ष तथा विलम्बित होते हैं कि सामान्य जनता इसके प्रति बहुत कम अवगत हो पाती है।

अन्य मोर्चों पर खतरे :

इस वैज्ञानिक युग में सभी मोर्चों पर हर वस्तु सुरक्षित नहीं है। मैं बड़े पैमाने के जनसंहार की बात नहीं कर रहा जो रासायनिक, परमाणु या भारी यन्त्रीकृत युद्ध हथियारों द्वारा होता है। मैंने बहुत ही सामान्य वस्तु वायु और जल प्रदूषण के बारे में संकेत किया है। भारत में, जिसका मैं प्रतिनिधित्व करता

हूँ, पर्यावरण को स्वच्छ रखने हेतु धार्मिक कार्यों को महत्व दिया जाता है। धार्मिक कर्तव्यों के रूप में देवऋण (प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति कर्तव्य) और वातावरण को स्वच्छ करने के लिए किया गया कोई भी कार्य देवयज्ञ कहलाता है। हममें से हर व्यक्ति पर्यावरण को थोड़ा-बहुत प्रदूषित करता है। हमारे प्रभु ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि पर्यावरण स्वयं सौर-विकिरण (उष्मा और प्रकाश). वनस्पति, आवश्यक तेल वाले पौधे और वायु धाराओं द्वारा स्वच्छ हो सकता है। हम पर्यावरण को संदूषण, प्रदूषण तथा कीटों से बचाने हेतु अग्निहोत्र या होम करते हैं। प्राकृतिक उपहारों के प्रति संपूर्ण उपेक्षाओं की क्षतिपूर्ति के रूप में यह हमारा नगण्य योगदान है।

अभी आपका देश ऊपर उठ रहा है, आपके पास ऐसे विस्तृत भूखण्ड हैं जो आबाद नहीं हैं। लेकिन आपने अपने बड़े शहरों तथा राजधानी में जीवन के आधुनिक तरीकों को अपना रखा है। कुछ वर्षों पहले मैं दक्षिण अफ्रीका संघ के जोहान्सबर्ग में था। घने शहर में स्वचालित वाहन वातावरण को प्रदूषित कर रहे थे। लगभग हर परिवार के पास एक या दो कारें थीं। कुछ धनी परिवारों विशेषकर यूरोपीय परिवारों में सदस्यों की संख्या से अधिक कारें थीं। जीवन हर मोर्चे पर क्षिप्र है। ऐसी परिस्थितियों में सावधानी अत्यावश्यक है।

यहाँ मैं यह इंगित कर दूँ कि सावधानी तो ऐसे मामलों में भी आवश्यक है जिनकी चर्चा कम हुई है। बड़े शहरों में शोर पर नियन्त्रण भी एक समस्या बन चुका है। सामान्यतया हम यह सोचते हैं कि शोर हानिरहित है। आपने चिकित्सालयों के आस-पास कुछ सार्वजनिक सूचनाएँ पढ़ी होंगी- 'कृपया शोर नहीं, चिकित्सालय यहाँ हैं'। शोर केवल बीमार व्यक्ति को परेशान नहीं करता अपितु स्वस्थ व्यक्ति में भी मानसिक तनाव उत्पन्न कर देता है। रेलवे स्टेशन पर शोर, बाजार में शोर, रिहायशी मकानों में शोरगुल, अगल-बगल ध्वनि-विस्तारक यन्त्र, माइक्रोफोन, रेडियो, ट्रांजिस्टर, ढ़ोल, नगाड़े-ऐसा दृश्य है। जो भी हो, मानव की अनुकूलन-क्षमता विलक्षण है। कारखाने में मशीनों के बीच काम करने वाला मजदूर दानवी आवाजों के बीच भी अभ्यस्त हो चुका है तथा इस पर बिना ध्यान दिये इस अस्वास्थ्यकर वातावरण में कार्य करता रहता है। लेकिन याद रखिये कि शोर प्रदूषण एक धीमा विष है जो तब तक पहचान में नहीं आता जब तक इसके बुरे प्रभाव परिलक्षित नहीं हो जाते।

यह बात याद रखी जानी चाहिए कि शोर तो पर्यावरण-प्रदूषण का एक पक्ष है। लोग सह तो लेते हैं पर इसके लिए वे बड़ी कीमत चुकाते हैं। लोग आपत्तिपूर्ण तीव्र आवाजों को सुनने से अपने कान बन्द करके अपने को अनुकूलित कर लेते हैं। फिर भी इससे इसके आन्तरिक विनाशकारी प्रभाव पर कोई रोक नहीं लग पाती है। इससे कम सुनने या स्थाई रूप से कुछ निश्चित ध्वनि आवृतियों के प्रति बहरेपन का रोग हो सकता है। इस प्रकार शोर के प्रति अनुकूलन की कीमत यह है कि हम संगीत तथा मनुष्य की आवाज के अधिक सूक्ष्म गुणों का आनन्द नहीं ले सकते।

पुराऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक काल से मनुष्य ने पर्यावरण के विनाशकारी प्रभाव को दूर करने तथा उसके अनुकूलन में अपनी योग्यता सिद्ध की है। इस प्रकार की अनुकूलता जीवों को उनके जीवनकाल में कल्याणकारी होती है परन्तु बाद में यह घातक होती है। मनुष्य के अनेक पुराने रोग गौण हैं और समस्थैतिक अनुक्रियाओं (homeostatic responses) के विलम्बित प्रभाव हैं जो अनुकूलनीय थे तथा दीर्घकाल में दोषपूर्ण बन गये।

अब मैं कुछ छोटे मुद्दों का उल्लेख करूँगा जो कुछ शताब्दियों बाद जीवन्त हो उठेंगे। हमारे औद्योगिक कार्यकलापों तथा उष्ण कटिबन्धीय अवशिष्टों के जलाने से (यह बहिःस्राव वाले देशों में अधिक है) वायुमण्डल के बोझ (धूल, कार्बन और अन्य कणों का भार) में वृद्धि हुई है। ये कण विकीर्ण होते हैं और सौर-विकिरण को अवशोषित करते हैं तथा भूमि सतह से बाहर निकलने वाले अवरक्त-विकिरण को भी प्रभावित करते हैं। इस तरह से मानवनिर्मित उत्पाद बड़े क्षेत्र के उष्मा सन्तुलन को प्रभावित करते हैं। मैंने अपने ही देश में देखा है कि वर्तमान मौसम एवं ऋतुएँ उतनी अनुकूल नहीं जितनी पाँच या छः दशक पहले थीं। यद्यपि मौसम को बिगाड़ने में कई कारक जिम्मेदार हैं परन्तु वायुमण्डल में कणिकाओं का बढ़ता भार भी महत्वपूर्ण है तथा इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

मानव अपनी जनसंख्या द्वारा भी अपने वातावरण के उष्मा-सन्तुलन को परिवर्तित कर रहा है। हमें ज्ञात है कि सन् 2000 तक पृथ्वी पर जनसंख्या दुगुनी (इस समय 3.6 बिलियन है) हो जावेगी तथा प्रतिव्यक्ति ऊर्जा की खपत आज की अपेक्षा अधिक होगी। हर प्रकार से ऊर्जा की दर सम्पूर्ण संसार में 5-6% की दर से बढ़ रही है। लगभग 1000 से 100000 किलोमीटर के क्षेत्र

औद्योगीकृत होंगे और इसमें लगने वाली ऊर्जा सूर्य से प्राप्त शुद्ध ऊर्जा के बराबर होगी और महाद्वीपीय स्तर पर यह योगदान वर्तमान की अपेक्षा 40 वर्षों बाद शुद्ध महाद्वीपीय औसत विकिरण 1% की दर से बढ़ जायेगा। इस प्रकार वर्तमान विज्ञान एवं तकनीकी युग का मनुष्य अप्रत्यक्ष रूप से अपने परिवेश को बदल रहा है जिसके परिणामों की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

अब मैं जलवायु-परिवर्तन से सम्बन्धित कुछ जानवरों की पशुचारण प्रथाओं का अन्य उदाहरण दूँगा। पालतू जानवरों की चराई से अफ्रीका तथा दक्षिणी पश्चिमी एशिया से कुछ भाग अर्धरेगिस्तानी क्षेत्रों में परिणत हो चुके हैं। तुर्की से अफगानिस्तान तक और भूमध्यसागरीय क्षेत्र, यूरोप और पूर्वी संयुक्त राज्य के घने पर्वतीय जंगलों को काट कर चरागाह बना लिया गया है और उष्ण क्षेत्रों के सवाना घास के मैदान मानवनिर्मित हैं। परिणामतः कुल भूमि क्षेत्र का 20% भाग बुरी तरह से बदल दिया गया है विशेषकर ऊष्मा तथा जल के बजट में। शुष्क और अर्धशुष्क क्षेत्रों में सिंचाई के लिए आवश्यक जल की माँग से भूमिगत जल-भंडारों में कमी आ रही है तथा सिंचाई प्रक्रिया द्वारा वायु में बाष्पोत्सर्जन बढ़ता जा रहा है।

मनुष्य का दूसरा प्रभाव है बाँध बना कर सतही जल को रोकने, झील निर्माण करने, दलदली क्षेत्रों से जल निष्कासित करने, नदियों को मोड़ने में। उदाहरण के लिए, कृत्रिम झीलें उष्मा संतुलन को प्रभावित करेंगी क्योंकि जल में पृथ्वी की अपेक्षा निम्न परावर्तक क्षमता होती है तथा उष्मा-क्षमता अधिक होने से से वायु में अधिक मात्रा में वाष्प पहुँचेगी।

शायद नदियों का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में दिशा-परिवर्तन का भी बहुत प्रभाव होता है क्योंकि ऐसे परिवर्तन से शुष्क तथा अर्धशुष्क क्षेत्र सिंचित क्षेत्रों में बदल जायेंगे तथा सम्पूर्ण सिंचाई जल का 3/4 से 4/10 भाग वायु में वाष्पीकृत हो जायेगा। भारत में हम बाँध और बड़े जलाशय बनाने की कोशिश कर रहे हैं तथा कई देशों में हम नदियों को निश्चित सीमाओं में रखने के लिए उन्हें प्रशिक्षित कर रहे हैं। एक तरह से इसे प्रकृति पर मानव की विजय कहा जा रहा है परन्तु यह समय आयेगा जब यह विजय गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न करेगी तथा हमें अपनी उपलब्धियों की बहुत बड़ी कीमत चुकानी होगी।

शीतकालीन हिमीकरण से प्रभावित समुद्री क्षेत्रों में नदियों के गिरने पर

नियंत्रण से क्रमशः हिमीकरण की दर भी प्रभावित होगी । जल्दी ही समुद्री बर्फ को पिघलाने के लिए जानबूझ कर की गई डस्टिंग के घातक क्षेत्रीय तथा विश्वव्यापी प्रभाव हो सकते हैं ।

सिल्वर आयोडाइड तथा अन्य क्रिस्टलों द्वारा बीजीकरण करके कृत्रिम वर्षा कराने में पूर्ण सफलता नहीं मिली है, अन्यथा ऐसे प्रयास का राष्ट्रव्यापी प्रभाव पड़ता और राष्ट्रीय समस्या उत्पन्न करता । बादलों से स्वामित्व में भी झगडे खड़े हो सकते थे । वर्षा पैटर्न में किसी भी प्रकार का परिवर्तन वायुमण्डल के ऊष्मा-बजट पर प्रभाव डालता है । इसलिए बड़े पैमाने पर बीजारोपण की क्रियाएँ, जिसमें 'हरीकेनों' (चक्रवातों) के मार्ग को बदलने के प्रयास सम्मिलित हैं, वर्षा तथा हिमपात के सामान्य पैटर्न को बदल कर इस दिशा में वैज्ञानिक प्रयास से राष्ट्रीय विवाद भी उत्पन्न हो सकते हैं ।

मैं तकनीकी और विज्ञान में प्रशिक्षित मानव के कार्यों का एक और उदाहरण दूंगा । मैं वायुयानों और अन्तरिक्ष यानों की बात करूँगा जो मनुष्य की एक शानदार उपलब्धि हैं । वायुयानों से व्यर्थ पदार्थ निकलते हैं तथा यह अनुमान लगाया गया है कि अगले दशक में हर पाँच या छः वर्ष पर जेट इंधन खपत की तुलना में व्यावसायिक उड़ानों द्वारा इंधन खपत दुगुनी बढ़ जायेगी । जेट विमानों का धुँआ निम्न क्षोभमंडल के ट्रोपोस्फियर पर एकत्रित होगा इस बात के संकेत हैं कि जेट यातायात से अधिक यातायात वाले क्षेत्रों में घन धुँधलापन उत्पन्न हो गया है और यह वायुमंडल के उष्मा-संतुलन पर भी कुछ न कुछ प्रभाव डालेगा । सुपरसानिक यानों से निकला धुँआ स्ट्रेटोस्फीयर में एक या दो वर्ष तक औसतन रहता है इसलिए इसकी सान्द्रता को नकारा नहीं जा सकता । भविष्य का मौसम विज्ञान आज की अपेक्षा पेचीदा होगा क्योंकि इसमें अनेक मानवनिर्मित प्राचल मिल-जुल जावेंगे ।

नितप्रति वर्धमान विज्ञान एवं तकनीकी को इन सारी बातों पर ध्यान देना होगा ।

प्राकृतिक संसाधनों पर दवाव :

पृथ्वी पर, पृथ्वी के भीतर तथा हमारे चारों ओर उपस्थित प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं । कृषि चक्र तो हर वर्ष, हर दूसरे या तीसरे वर्ष (कभी-कभी

छमाही), औद्योगिक चक्र 5 से 10 वर्ष में, तथा वन चक्र 20 से 50 वर्ष में पूरे होते हैं। लेकिन भूगर्भीय चक्र केवल एक बार किसी भूगर्भीय युग में ही पूरा होता है तथा इस धरती पर मानव जीवन काल में दुबारा नहीं लौटेगा। इस प्रकार के उत्पादों को जो भूगर्भीय युगों में ही उत्पन्न होते हैं मनुष्य बहुत तीव्र गति से समाप्त कर रहा है। कोयला, पेट्रोलियम, धातुएँ और खनिज इस श्रेणी के उदाहरण हो सकते हैं। यद्यपि इनको प्रतिस्थापित करने हेतु संश्लेपित उत्पाद बनाने के प्रयास हो रहे हैं पर इस दिशा में सावधानी जरूरी है। मनुष्य को इस समय और अधिक ऊर्जा, और अधिक भोजन की आवश्यकता है तथा एक या दो शताब्दियों के बाद वह भयावह आपदाओं का सामना करने जा रहा है। हमारी भावी पीढ़ी को जिस समस्या का शीघ्र ही सामना करना है वह स्पष्ट है किन्तु है गम्भीर। यह सब पिछले सौ वर्षों की वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति की देन है। अब हम ईंधन तथा ऊर्जा के लिए परमाणु स्रोतों की खोज में हैं। परन्तु जैसा कि लगता है समस्या उतनी आसान नहीं है। उसकी अपनी जटिलताएँ हैं। यह भी जानना कठिन है कि परमाणवीय या सौर ऊर्जा का उपयोग करने पर हम किस प्रकार की आपदाओं में जा गिरेंगे।

विज्ञान और धर्म

यद्यपि मैं अपने पूरे जीवन में विज्ञान का विद्यार्थी रहा, परन्तु फिर भी संसार के धार्मिक जीवन में गहरी रुचि लेता रहा हूँ। पूरे मिशन में आज मेरा यह नारा है | धर्म को व्यापक बनाओ और अपने विज्ञान का आध्यात्मीकरण करो। कुछ शताब्दियों पूर्व तक संसार में धर्म के दूतों का प्राधान्य था, आज वैज्ञानिकों के अधीन है। व्यक्तिगत धर्म से मठों, गिरजाघरों, कान्वेन्टों तथा बड़े-बड़े संघटनों का जन्म हुआ है और आज लघुस्तरीय विज्ञान दैत्याकार प्रौद्योगिकी में विकसित जो चुका है। इन दोनों के उद्देश्य समान थे—सामान्य मानव के कल्याण को देखना, प्रत्येक तरीके से उसके जीवन-स्तर को उठाना तथा उसकी छिपी हुई शक्ति को प्रकट करना—जिससे वह अपना पूर्णतम आकार प्राप्त कर सके। लेकिन विज्ञान और गिरजाघर दोनों असफल हो गये हैं। पहले ने विश्वसनीयता तथा मानव मन की दुर्बलताओं का शोषण किया, अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को जन्म दिया, जीवन को स्थिर और संकुचित बना दिया, इसने मृत्यु के बाद स्वर्ग का वादा किया किन्तु उल्टे इसने वर्तमान जीवन को नारकीय बना दिया। दूसरे ने अर्थात् विज्ञान और तकनीकी ने भी आर्थिक क्रान्तियों, अस्वास्थ्यकर प्रतियोगिताओं, असंतोष तथा आदर्शों के दिवालियापन को जन्म दिया।

एक असंतुलित वैज्ञानिक ऐसा वैज्ञानिक बन गया है, जो इन सभी बातों को नकार देता है, मानो कि वे अनुचित और अवैज्ञानिक हैं। वैज्ञानिकों और आध्यात्मविदों के अतिरिक्त हमारे पास नास्तिक लोग भी हैं जो यह कहते हैं कि विज्ञान प्रत्येक वस्तु की व्याख्या नहीं और वह यह नहीं मानता कि धर्म का भी कोई मूल्य है। फिर हमारे पास भावनावादियों का समूह है, जो अपने व्यक्तिगत अनुभवों पर बल देता है और यह आशा करता है कि दूसरे भी उनकी संवेदना को स्वीकारें। नैतिकता के पक्षधर भी समाज में चारित्रिक स्तर को ऊँचा नहीं उठा पाये। मनुष्य और अधिक झूठा, अधिक बेईमान, अधिक स्वार्थी और अधिक अविश्वसनीय हो गया है जो न केवल व्यक्तिगत स्तर पर है अपितु सामूहिक रूप में समाज के सदस्य रूप में या राष्ट्रीय महत्ता के कार्यों में प्रतिभागी के रूप में है। विज्ञान तथा धर्म के बीच का यह विवाद अब समाप्त होना चाहिये।

हमें कुछ गलतियों से बचना है। हमें धार्मिक मंचों से विज्ञान का मजाक नहीं उड़ाना चाहिए। हमें आध्यात्म या धर्म के नाम पर वैज्ञानिक तथ्यों को तोडना-मरोड़ना नहीं चाहिए (यह अपील ईसाई धर्म को मानने वालों के लिए है) और फिर हमें दृढ़ता से दो बातों को स्वीकार करना चाहिए। पहली यह कि विज्ञान और अध्यात्मविद्या (मेटाफिजिक्स) वास्तविकता तक पहुँचने के भिन्न भिन्न किन्तु स्पष्ट मार्ग हैं। विज्ञान धर्म या अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में कोई प्रमाण नहीं दे सकता। दूसरी यह कि विज्ञान एवं अध्यात्मविज्ञान धीरे धीरे एक दूसरे के निकट आ जाएँगे क्योंकि वास्तविकता (सच्चाई) तो एक है। यदि धर्म को अंधविश्वासों और रूढ़ियों से स्वतन्त्र कर दिया जाय एवं उसे व्यवस्थित कर दिया जाय और विज्ञान के इस अंतहीन एवं उद्देश्यहीन ज्ञान को व्यवस्थित कर दिया जाय ताकि वह विस्तृत रूप से जीवन के उच्च मूल्यों को स्वीकार कर सके एवं इसे धर्म से जोड़ दिया जाय तो हमारे लिए एक ऐसा धरातल तैयार होगा जहाँ भौतिकता एवं धार्मिकता के बीच कलह नहीं होगी और यह संसार जिसमें हम रह रहे हैं स्वर्ग बन जायेगा। इस उद्देश्य के लिए विज्ञान और धर्म को एक भाषा स्वीकार करनी होगी और मिलजुल कर काम करना होगा। विज्ञान के कारण आधुनिक युवा वर्ग हताश हो गया है। जीवन उसके लिए अर्थपूर्ण नहीं रह गया। जीवन का जैविक एवं आर्थिक प्रदर्शन उसे कोई संतुष्टि नहीं देता और वह इतना दिग्भ्रमित है कि अपने जीवन को अर्थपूर्ण नहीं बना पाता।

आध्यात्मीकृत विज्ञान शायद हमारी समस्याओं का कोई हल प्रस्तुत कर सके।

2. प्राचीन भारत में विज्ञान*

मैं भारतीय छात्र संगठन के आयोजकों का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझसे "प्राचीन भारत में विज्ञान" विषय पर बोलने को कहा है। 'प्राचीन' शब्द का अर्थ विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है। अभी पिछले ही दिन मैं बोस्टन में फाइन आर्ट्स संग्रहालय में एक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में भाग ले रहा था, जो शताब्दी समारोह के रूप में थी और उसमें एक भाषण में पूर्व-कोलम्बियन युग को बहुत पुराना समय बताया जा रहा था। भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में और इसी तरह से जब हम एशिया और मध्य-पूर्व देशों के बारे में बात करते हैं, तो प्राचीन शब्द हमें शताब्दियों पूर्व नहीं तो हजारों वर्ष ईसा पूर्व तक तो ले ही जाता है। चीन का इतिहास 1000 ई० पूर्व और ग्रीस का इतिहास 500 ई० पू० है तो मिस्र का 1000 ई० पू० है। भारत में हम वैदिक काल की बात करते हैं, जो ईसा से कुछ हजार वर्ष पहले की बात है।

भारत अत्यन्त प्राचीन परम्पराओं का देश है। एक तरह से यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हम तिथियों तथा जीवनवृत्त सम्बन्धी रेखा-चित्रों को संरक्षित करने की मनोवृत्ति वाले नहीं रहे। आपने मध्य काल के बहुत सी भारतीय चित्रों को देखा होगा। चित्र तो सुरक्षित हैं, लेकिन हमारे पास चित्रकारों के कोई रिकार्ड नहीं हैं। हमें उनके नाम ज्ञात नहीं हैं, उनके जीवन के बारे में विस्तार से कह पाना तो दूर रहा। यही बात हमारे मूर्तिकारों की है। हमारा देश मध्य युग के किलों के अतिरिक्त पुराने मन्दिरों, गुफाओं, स्तूपों तथा बौद्ध विहारों के मामले में धनी है। किन्तु इसके स्थपित, कलाकार तथा योजनाकार कौन-कौन थे, यह ज्ञात नहीं है। जब हम अपने इतिहास की रचना करने चलते हैं तो यह हमारे लिए हानिकर सिद्ध होता है। अरबों, मिस्रियों या ग्रीकों के मध्य दफनाने की प्रथा है,

---

*27 जून 1970 को इन्टरनेशनल हाउस ब्राउन विश्वविद्यालय प्रावीडेन्स (रोड आईलैंड) में दिया गया भाषण।

जबकि बहुत से भारतीय क्षेत्रों में मृतक शरीर को जला दिया जाता है या कभी-कभी पानी में प्रवाहित कर दिया जाता है। इसीलिए हमारे यहाँ मकबरे नहीं हैं। मिस्र में मृत शरीर के साथ उन वस्तुओं को इस विश्वास के साथ रख दिया जाता था कि अन्तिम न्याय के समय वे कब्र से उठ खड़े होंगे तो ये पुनः प्राप्त हो सकेंगी। इस प्रकार की पुरानी वस्तुओं की खोज से उस युग पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है जो हम से बहुत दूर है, लेकिन हमारे देश में ऐसी वस्तुओं के अध्ययन हो पाने की आशा नहीं है। इसलिए भारतीय पुरातत्व तथा पुरा इतिहास इन दोनों ही को कुछ हानि है। ऐसे तीन स्रोत हैं जो हमारे प्राचीन इतिहास का निर्माण करते हैं। (1) पुरातात्विक प्रमाण—यथा बर्तन, मृण्मूर्तियाँ (टेराकोटा), भवनों के अवशेष और सिक्के। (2) साहित्य जो अनेक तिथियों तक फैला हुआ है—वैदिक, जो वैदिक संहिताओं जैसे—ऋग्वेद से लेकर ब्राह्मणों और आरण्यकों तक है जो अनुमानतः प्राचीन काल से 500 ई० पूर्व, परावैदिक काल (500-300 ई० पू०), बौद्ध युग और सिकन्दर पूर्व युग (300 ई० पूर्व से 300 ई० तक) और अन्ततः 600 या 800 ई० का अत्यन्त महत्वपूर्ण काल, जब भारत बहुत ही गतिशील और अनेक संस्कृतियों को समेटे था, जिसमें वैदिक, यूनानी, कुषाण, सीथियन, पार्थियन, चीनी और अरब समाहित थे। मैं एक महत्वपूर्ण बिन्दु पर जोर देना चाहूँगा। प्राचीन समय में भारत में किसी संस्कृति या देश के विरुद्ध पूर्वाग्रह नहीं था और हम सदैव उन्नतिशील थे तथा दूरस्थ देशों से आने वाले विचारों को स्वीकार करने हेतु तैयार थे। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में हमने सहयोग की कामना की। मैं यह कहूँगा कि इस दृष्टि से विज्ञान सदा ही अन्तर्राष्ट्रीय रहा है। हमारे देश के लोगों ने दूर-दूर तक यात्राएँ कीं तथा वे भारतीय संस्कृति को सम्पूर्ण जगत में ले गये। हम पश्चिम और पूर्व भी गये। यदि आप जावा, बाली या अन्य द्वीपसमूहों, बर्मा, मलेशिया और थाईलैण्ड में जायें तो आप पायेंगे कि अलग-अलग क्षेत्रों में हमारी पुरानी संस्कृति फैली हुई है, जो हमारी सीमाओं पार न केवल स्थल मार्ग से अपितु समुद्र मार्ग से भी फैली है। यह एक भव्य अध्ययन है। भाषावैज्ञानिक अध्ययनों, लोकगीत, गीतों तथा लोक संस्कृतियों में दूर-दूर के पड़ोसी देशों से भारतीय सम्बन्धों का उल्लेख पाया जाता है।

अध्ययन का तीसरा स्रोत अलिखित परम्पराएँ हैं। निश्चित रूप से सभी कालों में हमारी परम्पराएँ परिवर्तित होती रहीं, लेकिन इस देश में एक बात अत्यन्त रोचक है कि जब कभी कोई नई बात आती है, कोई नयी विधि या नई

वस्तु प्रचलित होती है तो प्रारम्भ में भारत उसे संकोचपूर्वक स्वीकार कर लेता है, परन्तु बाद में बिना किसी भेदभाव के चलाता रहता है। उसी के साथ पुरानी परम्पराएँ भी नहीं भुलाई जातीं, बहुत से मामलों में ये आज भी स्थायी हैं। इस तरह से यद्यपि हम बीसवीं शती के यातायात और संचार के साधनों को पाते हैं किन्तु साथ ही घोड़ों, बैलों, साँड़ों, ऊँटों द्वारा खींची जाने वाली सवारियाँ आज भी कुछ हद तक सेवा में लगी हुई हैं। इस तरह से जहाँ हमें नई सभ्यता की प्रत्येक नई वस्तु देखने को मिलती है, वहीं साथ में पुरानी वस्तुएँ भी उसी या अन्य रूप में दिखाई देती हैं। ये पूरी तरह समाप्त नहीं हुईं। इससे हमें बीते इतिहास के निर्माण में सहायता मिलेगी।

किसी युग की खोज का निर्णय उस युग के ज्ञान के आधार पर होता है न कि हमारे वर्तमान मानदण्डों से। यान्त्रिकी में न्यूटन के योगदान का निर्णय उस युग की अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है। यहाँ तक कि प्रथम खिलौना-जैसी प्रेरण-कुण्डली फैराडे युग की उपलब्धि की प्रशंसा करती है और इसी तरह से किसी प्राचीन देश की उपलब्धियों के मूल्यांकन में भी उचित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता होती है। सिन्धु घाटी की सभ्यता ऐसे राष्ट्र के बारे में बताती है जो शहर योजना, निकासतन्त्र, जहाजरानी और धातुकर्म आदि से परिचित था। वैदिक सभ्यता ज्ञान के हर क्षेत्र में हमारी उपलब्धियों का बखान करती है। जैसे भाषा विज्ञान, व्याकरण, छन्दःशास्त्र, तर्कशास्त्र और मूलभूत विज्ञान जैसे औषधि, रसायन, गणित, ज्यामिति के मूल सिद्धान्त, क्षेत्रमिति और ज्योतिष। इस बात पर तर्क करना निरर्थक है कि वैदिक युग में अन्य राष्ट्रों की क्या उपलब्धियाँ रहीं तथा एक दूसरे को उन्होंने कितना प्रभावित किया। प्रारम्भिक भाषा, संस्कृति तथा सभ्यता शायद एक स्थान से शुरू हुई होगी अथवा मानव विस्तार के कई केन्द्र हो सकते हैं। मेरा हमेशा यही दृष्टिकोण रहा है कि यदि शब्दावली के प्रव्रजन की दिशा का पता लगा सकें तो उससे मानवीय भाव तथा संस्कृति के प्रव्रजन की दिशा का भी पता चल सकता है। सर विलियन जोन्स द्वारा संस्कृत और वैदिक शब्दावली की जानकारी पा सकना एक महान घटना है। तब से भाषा-विज्ञान ने खोज के क्षेत्र को बढ़ा दिया है और इसने तथाकथित प्राच्य अध्ययन को प्रोत्साहित किया है। वैदिक भाषा या शास्त्रीय संस्कृत अपनी पुरानी तथा आधुनिक संततियों के साथ वाणी के सबसे प्रारम्भिक संग्रह का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृत सबसे पुरानी मातृ-भाषा की ज्येष्ठतम पुत्री है। प्रत्यक्ष प्रलेखीय प्रमाण के अनुसार संस्कृत ही

एकमात्र जीवित पुत्री है क्योंकि इस परिवार की अन्य छः मुख्य सदस्याओं—ईरानी, हेलिनी, इटैलिक, केल्टिक, ट्यूटोनिक, लेटोस्लावी में से किसी में पारदर्शिता तथा भाषातत्व के विस्तार सुरक्षित नहीं हैं।

चूंकि मुझे विज्ञान के इतिहास में रुचि उत्पन्न हुई अतः मेरा दृष्टिकोण रहा है कि भारत हमेशा से अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों में विश्वास करता आया है। भारत ने नजदीकी तथा दूर सभी देशों के सहयोग से विज्ञान के हर क्षेत्र में योगदान दिया है। भारत का यूनानियों से सम्पर्क इस देश में सिकन्दर के आगमन से पहले से था। भारत की भाषा तथा भारतीय शब्दकोष भारत से अन्य देशों में पहुँचा। वैदिक भाषा में शर्करा शब्द का प्रयोग दानेदार क्रिस्टलीय पदार्थों के लिए सामान्यतः होता था। यह गन्ने से प्राप्त चीनी के लिए प्रयुक्त होने लगा। सूगर, जूकर, सुक्रोज, सैकेरोज और अन्य कई शब्द इसी शर्करा के परिवर्तित रूप हैं जो कि वैदिक मूल का शब्द है। अथर्ववेद में बाँस की तरह मीठे रस वाले वृक्ष का वर्णन आता है। यह सुगरकेन के नाम से जाना जाता है। वैदिक संहिता में इसे 'इक्षुकाण्ड' बताया गया है। 'मधु' तथा दुग्ध उत्पाद प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। वैदिक काल के महत्वपूर्ण ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में दूध से बने दस उत्पादों के बारे में बताया गया है।

दूध से मथकर मक्खन प्राप्त करना एक महान उपलब्धि रही होगी। शायद ही कोई अन्य देश दुग्ध उत्पादों के मामले में इतना आगे रहा होगा।

खाद्य पदार्थों के मामले में भारतीय सभ्यता जौ और चावल के साथ ही दो या तीन महत्वपूर्ण दालों की सभ्यता है। पर्याप्त मात्रा में जौ रखने वाले मनुष्य को 'यवमान' (एक बहुत ही आदरसूचक शब्द) कहा जाता था, 'धन' और 'धान्य' जैसे शब्द चावल और चावल उत्पादों के पर्याय थे, साथ ही ये धन और पर्याप्तता के प्रतीक थे। हम गाय और घोड़े के पूजक थे। गाय और घोड़े के लिए गौ तथा अश्व शब्द भारतीय शब्दकोष से पड़ोसी देशों में पहुँचे। यह भारतीय परम्पराओं की भारत से यूरोप तक प्रसरित होने की बात है। कैम्ब्रिज के प्रोफेसर जोसेफ नीढम ने महान देश चीन के विज्ञान और सभ्यता के बारे में लिखा है। वे अनेक विचारों तथा खोजों या आविष्कारों के लिए चीन को प्रथम श्रेय देते हैं। लेकिन मैं कहूँगा कि भाषाविज्ञान यह निश्चय करेगा कि भारत का योगदान अधिक महत्व का था या चीन का। निःसन्देह 'चा' शब्द या हिन्दी में चाय संकेत करता है कि भारतीय चाय चीनियों द्वारा लायी गयी।

लेकिन पड़ोसी देशों में 'सुगर' मीठे पदार्थों के लिए प्रयुक्त शब्द 'शर्करा' से बना है, जिसका अर्थ यह कि हम केवल चीनी प्राप्त करने के तरीके को ही नहीं जानते बल्कि उसे दानेदार बनाना भी जानते थे। भारत में हमारे पास दानेदार चीनी बनाने के अनेक घरेलू तरीके हैं तथा इनसे विभिन्न प्रकार की शर्करा खाँड़ से लेकर दानेदार चीनी तक बनाते हैं। मैं विज्ञान के इतिहास के अध्ययन में तिथियों की प्राथमिकता के पचड़े में नहीं पड़ना चाहता। मैं स्वीकार करता हूँ कि यूनानी और चीनी लोग प्रारम्भ से इतिहासप्रिय थे। उन्होंने अपने इतिहास को अभिलेखों, तिथियों के रिकार्ड सहित सुरक्षित रखा। चीनी लोग चित्रकला में योग्यताप्राप्त थे और उन्होंने हमारे लिए अपनी सभ्यता के बहुत ही प्रामाणिक अभिलेख छोड़े हैं। मुद्रण कला भी चीन में विकसित हुई जिससे उनको एक ओर अतिरिक्त लाभ हुआ। भारत ने यूनानी तथा अन्य देशों के लोगों के माध्यम से मध्य पूर्व तथा यूरोप के देशों में विज्ञान और संस्कृति में अत्यधिक योगदान किया है। भाषा विज्ञान मेरी इस संकल्पना की पुष्टि करता है।

वैदिक युग में मनुष्य जौ, चावल, मोटे अनाज, मसूर, तिल और सरसों से परिचित था। इनमें से अनेक वस्तुएँ आज भी धार्मिक कृत्यों और यज्ञों में प्रयुक्त होती हैं। वेद के अनुसार 'ग्राम्य पशु' में पाँच पशु सम्मिलित हैं—आदमी, घोड़ा, गाय, भेड़ और बकरी। वन्य जीवन में इन पाँचों का कोई सबसे पुराना प्रतिनिधि था और मनुष्य जैसे ही आदिमानव से बाहर आया उसने अपने साथ तथा परिवार के लिए चार अन्य जीवों को पालतू बना लिया जिन्हें घोड़ा, गाय, भेड़ और बकरी कहते हैं। ये जंगली जीवन में इसी रूप में नहीं पाये जाते। मानव समाज की यह उपलब्धि कितनी युगनिर्मायक रही होगी जब उसने कुछ अज्ञात जंगली जीवों को घोड़ा, गाय, भेड़ या बकरी जैसे उपयोगी सदस्यों के रूप में पाला होगा। ये जीव हमारे परिवार के सदस्य बन गये। उनकी खोज हमारे ज़ीवन में स्वचालित वाहनों की खोज से किसी भी प्रकार कम नहीं है। यह मनुष्य की महान उपलब्धि थी और हम भारतीयों को इस पर नाज है। यह कोई विचित्र बात नहीं है कि विज्ञान और तकनीकी की इतनी उपलब्धियों के होते हुए हम आधुनिक युग में एक भी जानवर को अपने परिवार के सदस्य के रूप में बढ़ा नहीं पाये हैं। सब्जियों के रूप में आलू और टमाटर का उपयोग हालांकि नया है और अपने बगीचे में हम जंगली फूल उगाते हैं परन्तु जानवरों के पालतू बनाने के सम्बन्ध में हमारी वर्तमान उपलब्धि नगण्य रही है। मैं व्यक्तिगत रूप

से यह विश्वास करता हूँ कि यह प्राचीन भारतीयों की देन है कि हमारे पास जानवर हैं। वे हमारी संस्कृति की आधारभूमि हैं।

वैदिक युग में सोना, चाँदी, ताँबा, टिन, लोहा (इस्पात भी) और सीसा धातुएँ ज्ञात थीं। पिछले वर्ष मैं दक्षिण अफ्रीका संघ के भ्रमण पर था। मैं पोर्ट एलिजाबेथ के मेयर से मिला और मैंने अनेक संग्रहालय भी देखे। यह जानी-मानी बात है कि दक्षिणी अफ्रीका की सोने की खानों के पूर्व संसार का अधिकांश सोना भारत से ही आता था। भारत अब तीन हजार वर्षों से पर्याप्त मात्रा में सोना निकाल रहा है। अब हम अधिकांश सोने को निकाल चुके हैं। पहले हमारे पास इतना सोना था कि हम विदेशी चाँदी के लिए इसका विनिमय करते थे। सोने की प्राप्ति हेतु हमें पुरातत्व के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। आज हमारे पास संग्रहालयों में यूनानी आक्रमण के पहले के सोने के सिक्के रखे हुए हैं। लेकिन 'शतपथ ब्राह्मण', 'तैत्तिरीय संहिता' और हमारे प्राचीन साहित्य के अनुसार सोने के सिक्के, सोने के गहने और अन्य सुरुचिपूर्ण वस्तुएँ सोने से ही बनती थीं। धातु के रूप में जस्ते की पहचान बहुत बाद में हुई। यह विचित्र बात है कि जस्ते का पता चलने से पहले ही काँसा (जस्ते और ताँबे की मिश्र धातु) ज्ञात था। जस्ता और ताँबे के अयस्क को कोक या कार्बन के साथ गलाकर काँसा तैयार किया जाता था। कुछ समय तक पीतल को भी एक धातु माना जाता था (यह जस्ता और टिन की मिश्रधातु है)। टिन को त्रपु या वंग के नाम से जाना जाता था। भारतीय कीमियागरी में पारा बहुत बाद में सम्मिलित हुआ, सम्भवत: नागार्जुन ने ऐसा किया। मैं विश्वास करता हूँ और शायद प्रो० नीढम भी सोचते हैं कि यह नागार्जुन बौद्ध नागार्जुन से भिन्न है जो बौद्ध दर्शन तथा अध्यात्मविद्या में महत्वपूर्ण व्यक्ति था।

हाल ही में हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, कैम्ब्रिज (मैसा) ने कीमियागिरी नुस्खों पर सातवीं शताब्दी का एक गुटका ताइचिंग तान चिंग याओ च्यूह छापा है जो अमृत निर्माण के सूत्रों का संग्रह (Chinese alchemy, Preliminary Studies) है। इस पुस्तक में 712-725 ई०के लघु अमृतों के चौंतीस प्रकारों को बताया है। इन रसायनों में (i) स्कारलेट रसायन या रीयेल्गर (ii) कैलोमल रसायन (iii) क्विकसिल्वर रसायन का सफेद शोधित रूप सम्मिलित हैं। ये रसायन पारे से प्राप्त किये गये। भारतीय रस विद्या में पारे का प्रचलन एक महत्वपूर्ण विशिष्टता है। मनुष्य हमेशा से तीन इच्छाओं की पूर्ति के लिए

लालायित रहा है (अ) गरीबी पर विजय पाना यानी निरन्तर धातुओं को सोने-चाँदी में बदलना, वह पारस पत्थर को खोज निकालने की आशा करता था (आ) बुढ़ापे तथा मत्यु पर विजय पाना यानी अमृत की खोज (इ) ऊपरी आकाश में स्वतन्त्र रूप में बिना पंख के चिड़ियों की तरह उड़ना। जब भारतीय रसविद्या में पारा आया तो भारतीय कीमियागरी को बड़ी आशा थी कि ये तीनों इच्छाएँ पूर्ण हो जायेंगी। द्रव धातु के रूप में पारा ही ज्ञात था, इसमें एक गुण यह था कि किसी भी धातु के साथ आसानी से मिल जाता था और फिर यह वाष्पित होने वाला था। भारतीय कीमियागरी में नागार्जुन पारे के यौगिक पदार्थों के अग्रणी बने। हम भारतीय 'मकरध्वज' तथा 'चन्द्रोदय' नामक दो पदार्थों से परिचित हैं जो मरते हुए मनुष्य को 'मूर्छा' की स्थिति से उबार लेते हैं। चूंकि पारा उड़नशील था अतः यह आशा की जाती थी कि इससे बनने वाला कोई पदार्थ मनुष्य को बिना पंखों के हवा में उड़ायेगा। पारे ने अन्य निम्न धातुओं के रंग बदल दिये जिससे रसायनविद इसकी सहायता से निम्नतर धातुओं को और उपयोगी बनाने की सोचने लगे। हालांकि इनमें से कोई भी इच्छा पूरी न हो सकी परन्तु पारे के विस्तृत अध्ययन से कीमियागरी में एक और अध्याय जुड़ गया। भारत के समान पारे से सम्बन्धित अध्ययन किसी भी अन्य देश ने नहीं किया। रस साहित्य (रसतन्त्र) इसके साक्षी हैं। भारतीयों द्वारा अध्ययन किये गये पारे के गुणों का वर्णन करने हेतु एक पूर्ण व्याख्यान की आवश्यकता होगी। औषधिशास्त्र रूपी मन्दिर में केन्द्रीय अर्धविग्रह धातु का लिंग था जिसके चारों ओर अन्य शक्तियाँ थीं, जिन्हें महारस और उपरस कहा जाता है। यह अध्ययन विचित्र है क्योंकि इससे पेषण कार्य (देखें तप्त खल्व ग्रंथ) या आग का नियमीकरण नियमन (ईंधन के नियमन द्वारा, तापमापी का ज्ञान नहीं था), अनेक प्रकार के आसवन, जिसमें जल अवगाह या बालुका अवगाह पर ऊर्ध्वपातन सम्मिलित हैं, या सैन्ड बाथ पर शोधन शामिल हैं। गर्म करना, पिघलाना, क्रुसिबुल या मूषा में भस्म करना जैसी प्रयोगशाला की एकक संक्रियाओं का जन्म हुआ, जैसा कि वे कहते थे। दवाओं को अलग-अलग बर्तनों में रखकर भंडारित किया जाता था। धीरे-धीरे प्राचीन भारतीय फार्मेसी में प्रयोग होने वाले रसायनों में गन्धक, शोरा, बोरैक्स, नौसादर और थोथे जैसा लवण एवं अभ्रक के नाम जुडते गये। फिर गेरू और अनेक रंजक प्राप्त हुए। शीलाजतू भी एक सामान्य पदार्थ था जो बिटुमनी कोयले की तरह था। पारे को स्थिरीकृत करने का नुस्खा चीनी पुस्तक 'तान चिंग याओ चुये' में दिया हुआ है। इसी

प्रकार भारतीय कीमियागरी द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारों से विभिन्न रस प्राप्त किये गये हैं। मैं यहाँ नाथन सिविन के अनुवाद से उद्धृत करूँगा।

"जब पारा आग के सम्पर्क में आता है तो वाष्पीकृत होता है तथा इसे उसी स्थान पर बनाये रखा नहीं जा सकता। अब इससे कई चीजें बनाई जा सकती हैं लेकिन तभी जब इसे किसी अन्य पदार्थ द्वारा स्थिर कर दिया जाय। यदि इसे वसन्त में एकत्र किया जाने वाला चीनी एकोनाइट का कन्द, लाल स्कन्द, श्वेत हैलाइट, सफेद लवण (शुद्ध NaCl), भारतीय मिर्च, हरताल, लम्बी मिर्च, रूक्ष हेलोट्राइकाइट, अमोनियम क्लोराइड, जिसमें गन्धक अशुद्धि होती है, काला नमक जिसमें सल्फाइड अशुद्धि होती है के साथ स्थिर कर दिया जाय तो असफलता का प्रश्न ही नहीं उठता। इन्हें चूर्ण बनाकर सिरके से मिश्रित करके लेई बनाओ तथा इसे मूषा की आकृति देकर इसमें पारा डालो तथा एक कपड़े से जिसके सिरे क्षैतिज डन्डियों से जुड़े होते हैं, लपेट कर एक बर्तन में लटकाओ तथा इसे दृढ़ीकृत सिरके में तीन दिन और तीन रात उबालो। पारा निकाल दो और इसे शोधन पात्र में रखो।"

"पुनः इस शक्तियुक्त सिरके को लो, एकोनाइट की जड़, नौसादर और मस्कोवाइट बराबर मात्रा में मिलाकर पारे के साथ पीसो। सात दिनों तक इस मिश्रण को पारे के सम्पर्क में रखो। फिर पारा साफ करो। थोड़ा सा तेल, नमक और नौसादर मिलाकर बर्तन में रखो। इसमें एक दिन और रात (पारे को) उबालो। यह उपयोग में लाने के योग्य हो जाता है।

चीनी पुस्तक का यह नुस्खा निश्चित रूप से भारतीय है। वास्तव में हमारे साहित्य में पारे को स्थिर करने, शुद्ध करने तथा परिवर्तन हेतु अनेक नुस्खे विद्यमान हैं। भारतीय कीमियागरी प्रायोगिक थी तथा विश्व की किसी भी कीमियागरी से श्रेष्ठ थी।

भारतीय औषधीय पादपों पर एक गोष्ठी 2500 साल पहले अत्रेय पुनर्वसु के निर्देशन में हुई थी तथा इस गोष्ठी के विवरण चरक के नाम पर बनी 'चरक संहिता' में मिलते हैं। चरक स्वयं भी इस क्षेत्र में महान विभूति थे जिनकी तुलना केवल हिपोक्रेट्स से की जा सकती है। सम्पूर्ण वनस्पतियों तथा सजीव या निर्जीव उत्पत्ति की सारी वस्तुएँ एकत्र की गईं, उनकी परीक्षा की गयी, एक व्यवस्थित रूप में वर्गीकृत किया गया तथा उन दिनों के रोगों के

अनुसार उनकी विवेचना की गयी। वैदिक संहिता में अनेक जड़ी-बूटियों तथा पौधों का विवरण मिलता है जो मनुष्य के रोगों के उपचार के काम में आते थे। जानवर भी कुछ जड़ी-बूटियाँ और पौधों को जानते थे जिनका उपयोग वे रोग से पीड़ित होने पर करते थे। ये जड़ी-बूटियाँ मनुष्य को भी स्वस्थ बनाने वाली होती थीं। ऋग्वेद में इसका एक सन्दर्भ मिला है। प्रकृति में उपलब्ध किसी भी वस्तु के लिए भारतीयों का कोई पूर्वाग्रह नहीं था। उनका विचार था कि प्रकृति में पाई जाने वाली कोई भी वस्तु अनुपयोगी नहीं है, हमें इसके उपयोग का पता लगाना चाहिए। अतः वे जहाँ तक पहुँच सके उन्होंने सर्वेक्षण किया। यह भारतीय फार्मेसी की प्रारम्भिक स्थिति थी। द्वितीय अवस्था में पौधों से औषधीय तत्वों का निष्कर्षण हुआ, तीसरी अवस्था में कार्बनिक और अकार्बनिक धात्वीय और अधात्वीय पदार्थों से औषधीय पदार्थ बने। इस प्रयास में उन्होंने आक्साइड, हैलाइड, सल्फाइड और सल्फेट बनाने की अनेक विधियाँ प्रस्तुत कीं।

जब सारे प्रयोगकर्ता महत्वहीन धातुओं को महत्वपूर्ण बनाने या रोगों के उपचार के अनेक प्रकार के नुस्खों की खोज में लगे हुए थे उसी समय रसायन विज्ञान का उपयोग युद्ध के लिए भी हो रहा था। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र (अनिश्चित तिथि—300 ई० पू० से 300 ई० सन्) में धूम परदा, शत्रुओं के वायुमण्डल को दूषित करने, शत्रु की आँखों में रोग उत्पन्न करने तथा अदृश्य होने के अनेक नुस्खे लिखे हैं। यह ग्रंथ उस समय के माप के सम्बन्ध में जानकारी देता है जैसे | बाँट एवं माप का मानकीकरण, तुला का विस्तृत विवरण, तथा मिलावट की जानकारी। यह भोजन में उस जहर की पहचान हेतु ज्वाला परीक्षण और जैव परीक्षण के बारे में बतलाता है जिसको राजा या उसकी सेना को दिया जा सकता था। संदिग्ध मामलों में यह शव परीक्षा की भी जानकारी देता है।

जब मैं प्राचीन भारत ओषधिपद्धति की उपलब्धियों के बारे में बात करता हूँ तो मेरा तात्पर्य उन देशों के योगदान को नकारना नहीं है जिन्होंने इस क्षेत्र में कार्य किया है। कुछ पादप और ओषधीय निर्मितियाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रयोग के लिए थीं जबकि कुछ भारतीय वनस्पतियों तक सीमित थीं। भारत ने अपनी घरेलू जड़ी-बूटियों और पौधों पर कार्य किया, अन्य देशों ने भी अपने स्रोतों की खोज की होगी। अधिकांशतया उपकरण एक जैसे थे। कुछ नुस्खे एक देश से दूसरे देश में पहुँचते रहे। मैं अपने भाषणों में हमेशा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और आपसी मूल्यांकन की बात करता हूँ।

एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र जिसमें भारत ने योगदान दिया और जिसका अगुवा था वह है शल्य चिकित्सा। महाभारत के शान्तिपर्व में 5 प्रकार के विशेषज्ञों के बारे में संकेत किया गया है—**रोगहर** या फिजीशियन, **शल्यहर** या शल्य चिकित्सक, **विषहर** या विष का उपचार करने वाले, **कृत्यहर** या तान्त्रिक, **भिषंगअर्थवन** या पुरोहित चिकित्सक। वैदिक साहित्य विशेषकर अथर्ववेद में शल्य चिकित्सा के अनेक रूपों का वर्णन है। ऋग्वेद में पैर के स्थान पर लोहा लगाने की बात की गयी है। मैं यहाँ दो अश्विनी कुमारों की उपलब्धियों के बारे में नहीं कहूँगा (वे पौराणिक थे)। लेकिन सुश्रुत ने अपना जीवन शल्य चिकित्सा में ही लगा दिया। उसने शल्य चिकित्सा को आठ वर्गों में बाँटा (1) **आहर्य** (ठोस पिंड का निष्कर्षण) (2) **भेद्य** (3) **छेद्य** (4) **एष्य** (5) **लेख्य** (6) **सीव्य** (7) **वेध्य** और (8) **विस्राव्य**। शल्य चिकित्सा के छात्रों को वास्तविक शल्यक्रिया करने से पहले उन्हें प्राकृतिक तथा कृत्रिम वस्तुओं पर अपने चाकू से अभ्यास करने के लिए कहा जाता था। उदाहरण के लिए, **छेद्य** प्रक्रिया पुष्पफल (कुकुरबिटा मैक्सिमा), आलबू (लांगनेरिस वल्गैरिस) या त्रापुस (कुकुमिस पुबेस्कुआस) के ऊपर, **विस्राव्य** का अभ्यास पानी से भरे चमड़े के थैलों, मृत जानवरों के मूत्राशय पर, **लेख्य** का अभ्यास जानवरों के पिछले भाग पर जहाँ बाल रहने दिये जाते थे, **विच्छेदन** मृत जानवरों के शरीर पर या जल कमलिनी के ऊपर किया जाता था।

सुश्रुत संहिता में 101 शल्यक्रिया यन्त्रों के आवश्यक विवरण हैं। शायद ही कोई अन्य पुस्तक प्राचीन समय की इतनी उपलब्धियों के बारे में बताती है। ये यन्त्र इस्पात के बने होते थे तथा इतने पैने होते थे कि एक बाल का भी विच्छेदन किया जा सकता था। उन्हें एक लकड़ी के बक्से में फलालेन में लपेट कर रखा जाता था। इन यन्त्रों में अनेक प्रकार की छुरियाँ, लेख्य, फाहा, अस्थि चिमटी, कैंची, ट्रोकार और सुई के अलावा अनेक प्रकार के हुक, लूप, छेदक, चिमटी, नाल, शलाका, सिरंज, गुदादर्शिका और शलाका थे इसमें चौदह प्रकार की पट्टियों के विवरण हैं। खपाचियाँ बाँस से निर्मित होती थी और रस्सी से बाँधी जाती थीं। आवश्यकतानुसार उन्हें लम्बाई के अनुसार काट लिया जाता था। शल्यचिकित्सक जाँघ, ह्यूमरस, रेडियस और अलना हड्डियों के टूटने को जोड़ने में कुशल थे और फिर घावों को भेद्य, छेद्य, अन्तःक्षति चोट आदि में वर्गीकृत किया जाता था। सिर और चेहरे के चीरों को सिला जाता था। कभी-कभी घावों से लोहे के छोटे टुकड़े निकालने हेतु चुम्बक का उपयोग किया जाता था। सूजन को सूजनरोधी विधि और उपचारों से ठीक

किया जाता था। शल्य क्रिया कुहनी के झुकाव के अतिरिक्त अन्य बिन्दुओं पर भी की जाती थी। नश्तर के बजाय जोंकों का प्रयोग अधिक होता था। पुल्टिस लगाने, सेंकने जैसे कार्य बहुतायत से होते थे। गाँठ और बढ़ी हुई लिम्फैटिक ग्रन्थियों को काट दिया जाता था तथा पुनः उत्पन्न होने से रोकने के लिए इन पर आर्सेनिकल मरहम लगा दिया जाता था।

सुश्रुत ने नाक और कान को ठीक अवस्था में लाने के लिए प्लास्टिक शल्य क्रिया के बारे में भी बताया है। इसके लिए गाल की त्वचा ली जाती थी। नेत्रप्रदाहग्रस्त शल्य चिकित्सा में मोतियाबिन्दु निकाला जाता था। प्रसूतिजन्य शल्य क्रियाएँ कई प्रकार की थीं, जिसमें चीरा लगाना और भ्रूण को कुचलने जैसे क्रियाएँ शामिल थीं।

निस्सन्देह सुश्रुत के समय भारतीय शल्य चिकित्सा पीड़ारहित न थी, क्योंकि निश्चेतना विज्ञान का ज्ञान नहीं था। ऐसी ही शल्य चिकित्सा यूरोप की भी थी।

अब मैं गणित और ज्योतिष के विभिन्न क्षेत्रों में भारतीयों द्वारा किये गये योगदान को बताऊँगा। ऋग्वेद में बड़े-बड़े संख्यात्मक अंक जैसे अयुत (दस हजार) और चत्वरि अयुत (चालीस हजार, VIII, 2.4) का उल्लेख है। मेधातिथि नामक ऋषि जिनका सम्बन्ध यजुर्वेदीय छन्द तथा वैदिक साहित्य के बहुत से मन्त्रों के साथ जोड़ा जाता है, उन्होंने परार्ध की गिनती का प्रतिपादन किया एक (1) दस (10) शत (10^2) सहस्र (10^3) अयुत (10^4), नियुत (10^5), प्रयुत (10^6), अर्बुद (10^7) न्यर्बुद (10^8), समुद्र (10^9), मध्य (10^{10}) अन्त (10^{11}) और परार्ध (10^{12})। यजुर्वेद में विषम संख्याओं की एक सारणी है (XIV 28-31 और XVIII, 24) यथा 1, 3, 5, 7. .33 इसमें चार के गुणे की भी सारणी (X VIII, 25) 4, 8, 12, 16...4, 448 है। तैत्तिरीय संहिता में 1 से 19 तक संख्याओं, फिर 19, 29, 39, 49, 59, 69, 79, 89, 99, और फिर विषम तथा सम संख्याओं 4, 5, 10, 20 और 100 के गुणक संख्याओं की सारणी है। इस तरह परार्ध तक गिनती दी गयी है जैसा कि यजुर्वेद में है। मैंने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार' में बताया है कि मेधातिथि ने वैदिक कर्मकांडों में बिलियन तक संख्या दी है। ईंटों के लिए इष्टक शब्द बहुत सार्थक है, ईंट की खोज भारतीयों ने की जब उन्हें अपने इष्टि (आग-क्रिया) के लिए अग्निवेदिका बनानी पड़ी। बाद में ये ईंटें

मकान और अन्य वास्तुकलाओं को बनाने के काम आने लगीं। शुल्ब सूत्र में विभिन्न आकारों (घनाकार, आयताकार, त्रिभुजाकार, पंचभुजाकार) की ईंटों तथा उनके तल क्षेत्रफल के बारे में विस्तार से बताया गया है। वैदिक युग में संख्याएँ एक, द्वि, त्रि आदि नामों से जानी जाती थीं जिन्हें सुधरे रूप में आज भी यूरोपीय भाषाओं में उपयोग किया जाता है। वैदिक व्युत्पत्ति की पुस्तक—यास्क कृत निरुक्त—शायद एकमात्र पुस्तक है जो उन संख्याओं की व्युत्पत्ति के बारे में बताती है जो ऋग्वेद में आई हैं। इस प्रकार हमने न केवल संख्याओं के प्राथमिक विचार दिये अपितु इन संख्याओं के वर्तमान नाम तथा दस और उसके घातांक के मानों के बारे मे भी बताया। वैदिक युग में ही हमने साहित्य में उपयोग होने वाली संख्याओं की तकनीक विकसित की। कुछ देवता भी संख्याओं के साथ जुड़े हैं :

संख्या	1	अग्नि
	2	अश्विन
	3	विष्णु
	4	सोम
	5	पूषान्
	6	सवितृ
	7	मरुत
	8	बृहस्पति
	9	मित्र
	10	वरुण
	11	रुद्र
	12	विश्वदेवा: (सभी देवताओं से)

यह भारतीयों की बारहखड़ी विधि थी।

अब मैं एक अन्य प्रणाली के प्रचलन के विषय में कहूँगा जिसका प्रयोग आर्यभट प्रथम (जन्म 476 ई०) ने ज्योतिषीय संख्याओं की गणना को स्वर तथा व्यंजन के साथ जोड़ने के लिए अपनाया था।

स्वर

अ	1	ए	100^5
इ	100	ऐ	100^6
उ	100^2	ओ	100^7
ऋ	100^3	औ	100^8
लृ	100^4		

व्यंजन

क 1 ख 2 ग 3 घ 4 ङ 5

च 6 छ 7 ज 8 झ 9 ञ 10

ट 11 ठ 12 ड 13 ढ 14 ण 15

त 16 थ 17 द 18 ध 19 न 20

प 21 फ 22 ब 23 भ 24 म 25

य 30 र 40 ल 50 व 60

श 70 ष 80 स 90 ह 100

इस तरह ख्युघृ शब्द 4, 320, 000 के लिए आया है

=(ख्+य्) उ+घ्×ऋ

$=(2+30)\ 100^2+4+100^3$

$=32\times10000+400{,}000$

=4, 320, 000

इसी प्रकार

डि० शि बुण्लृख्षृ 1, 582, 237, 500 के लिए है—

=ङ्×इ+श×इ+ब्×उ+ण्×लृ+(ख्+ष्) ऋ

$=5\times100+70\times100+23+100^2+15\times100^4$

$+(2+80)\times100^3$

$=500+7000+230000+1500000000+82000000$

=1, 582, 237, 500.

इससे आर्यभट को अपने ज्योतिष ग्रन्थ में बड़ी संख्याओं को श्लोकों के रूप में व्यक्त करने में आसानी हो गयी। इस प्रकार के संकेतों द्वारा बड़ी संख्याओं को व्यक्त करने से कुछ हद तक संख्याओं में स्थानीय मान की विचार-धारा का जन्म हुआ। हम भारतीय इस तथ्य से अति आश्वस्त हैं कि (1) भारतीयों ने सबसे पहले इस पर आधारित संख्याओं की अवधारणा दी। (2) इन्होंने स्थानीय मान की अवधारणा दी। (3) सर्वप्रथम शून्य की अवधारणा दी तथा उसका प्रयोग बताया। भारत में हम प्रामाणिक अभिलेखों को उतना महत्व नहीं देते। हम परम्परा को वरीयता प्रदान करते हैं। हम अपने साहित्य को भित्तिलिपि या उत्कीर्ण करके नहीं अपितु बोलकर और आपसी संचार से बनाये रखते हैं। आर्यभट पाँचवी सदी में पैदा हुआ था। लगध का वेदांग ज्योतिष 100 ई० पू० या उसके पूर्व का है। मेरा यह विश्वास रहा है कि इस ग्रन्थ में दी गयी गणनाएँ निम्नलिखित तीन बातों को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं हो सकती थीं। (1) लगध के पूर्ववर्ती लोगों ने अपनी गणनाएँ लिखकर रखीं, न कि मौखिक, उनके पास संख्याओं के संकेत भी थे। (2) वे इतनी लम्बी गणनाओं को बिना स्थानीय मान का प्रयोग किये नहीं कर सकते थे (3) उनके पास शून्य के लिए कोई संकेत रहा होगा या तो वह बिन्दु था या कोई गोल आकृति।

अनन्त और शून्य की अवधारणा भारतीय आध्यात्म विद्या पर आधारित हैं। ब्रह्म अनन्त (विस्तार में) तथा सूक्ष्म दोनों है। इन दो छोरों के लिए पूर्ण और ख (मूलतः शतपथ में आये श्लोक—पूर्णमदः पूर्णमिदम् से आरम्भ होने वाले ईश उपनिषद् की भाषा में) है। पूर्ण शब्द अनन्त के लिए प्रयोग होता है तथा इसकी समाप्ति ओं-खं-ब्रह्म है। ओं और खं अत्यल्प के लिए हैं। ओं अक्षर में स्वर ओ (Au) को खुले होठों से तथा गोल आकार बनाकर उच्चारण किया जाता है। यह ओ ओम् या खं या ब्रह्म है। इससे यह स्वाभाविक था कि अत्यल्प मात्रा जो शून्य के बराबर होगी कोई गोल आकृति होगी। दूसरी शब्दावली में, ब्रह्म एक छोर पर महत (अनन्त) और दूसरे छोर पर अणु है। वैशेषिक परिभाषा में अणु में बिन्दु की विमाएँ हैं और इसे परिमण्डल माना जाता है। इसलिए यह पूर्णरूपेण स्वाभाविक था कि शून्य को एक बिन्दु द्वारा प्रदर्शित किया जाता। ओम् = खं = ब्रह्म = अणु = शून्य, ये सभी गोल संकेत द्वारा, जिसकी विमा बिन्दु है, दिखाये जाते हैं।

तब मनुष्य की सबसे बड़ी खोज है इस संकेत खं या आकाश का उपयोग किसी संख्या के स्थान के प्रति सैकडवें, हजारवें को व्यक्त करने के लिए करना। यह भव्य संकल्पना थी। ऐसा इसलिए कि ओम् या खं या ब्रह्म (संख्याओं में ये अणु या परिमण्डल, एक गोल विन्दु) में पूर्ण से शून्य, अनन्त से अत्यल्प या महत् से अणु के दो छोर हैं। इस संकल्पना से संकेत पाकर हमारे पूर्वज शून्य को 10 के सभी घातांकों (ऋणात्मक और धनात्मक) का उपयोग कर सकते थे।

प्रोफेसर नीढम ने संख्याओं के स्थानीयमान तथा शून्य के बारे में चीनियों ने जो दावे किये हैं उनके विषय में विस्तार से लिखा है। वे अपने तर्क को पुरालेखीय प्रमाणों पर आधारित बताते हैं। भारत में हम परम्परागत प्रमाणों पर, जो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप में संचारित होते रहे, निर्भर रहे। स्मिथ के अनुसार चीन में गणित की प्रारम्भिक पुस्तक 'वु त्साओ सुआन चिंग' जिनमें छड़ संख्याएँ पायी जाती हैं, 5वीं या शायद चौथी शताब्दी में लिखी गयी। प्रो० नीढम ने इस ग्रन्थ के जिस संस्करण को देखा उसमें वास्तव में छड़ संख्याएँ नहीं हैं। गणनाएँ मानक रूप में लिखी गयी हैं। चीन में गणित से सम्बन्धित छपाई का कार्य 11वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ लेकिन पुरालेखीय तथा मुद्राशास्त्रीय प्रमाणों के अनुसार छड़ संख्याओं का उपयोग हजार वर्ष पहले से ही हो रहा है। नीढम के अनुसार त्सो चुआन 542 ई० पू० में वर्णित चित्रलिपि यह दिखाने के लिए उद्धृत की जाती है कि छड़ संख्याएँ चाओ युग के मध्य की हैं। उस गद्यांश का सम्बन्ध वृद्ध व्यक्ति की आयु निर्धारण से है तथा है (hai) के चक्रीय गुण का विश्लेषण करके दो या तीन 6 प्राप्त किये जाते हैं जिससे पुरुष की आयु 2666 दिन आती है। इससे स्थानीय मान ज्ञात होता है परन्तु त्सो चुआन ग्रन्थ का पुन: लेखन हुआ अतएव नीढम के अनुसार वारिंग स्टेट्स से पूर्व काल के प्रमाण के रूप में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके लिए सिक्कों में प्रमाण उपलब्ध हैं। यदि सुआन (Suan) लिपि व्यवस्थित गिनती-छड़ों का प्राचीन ओरख है तो संख्या (उपकरण भी) प्रथम सहस्राब्दि ई० पू० की है। कुछ आप्त वचन संख्याएँ विशेषकर—5, 6, 7 और 10 स्पष्टत: छड़ों के रूप में व्यवस्थित लगती हैं।

जैसा नीढम कहते हैं, छिन (Chhin) और हान (Han) के समय में π तथा $\pm$ जैसी दो संख्याओं को पूर्णतया स्थिरीकृत कर दिया गया था। पहली इकाई के रूप में तथा दूसरी दस के लिए, पहली 100 के लिए तो दूसरी 1000

के लिए और इस तरह से आगे के लिए भी उपयोग में लाई जाती है। ईसा की तीसरी शताब्दी तक वे क्रमशः शुंग (tsung) और हेंग (heng) संख्याओं के रूप में जानी जाने लगीं। इस काल को सुन त्जू सुआन चिंग कहते हैं।

गणना करने में हमें सबसे पहले संख्याओं के स्थान तथा संरचना के बारे में (Wei) जानना होगा। इकाइयाँ ऊर्ध्वाधर तथा दहाई की संख्याएँ क्षैतिज, सैकड़े की संख्या ऊर्ध्वाधर और हजार की संख्याएँ क्षैतिज रहती हैं। इस प्रकार हजार और दहाई की संख्याएँ एक जैसी लगती हैं, उसी तरह से दस हजार और सौ भी। जब हम 6 पर आते हैं तो हम और अधिक प्रयास नहीं कर पाते और 5 को कोई संयोजन नहीं मिल पाया है।

1 2 3 4 5 6 7 8 9

Units
Hundreds
Thousands

Tens
Thousands

Thus for example, the number 4716 appeared as · In the Sung, figures tended to condense into monogrammatic forms, such as in this case

शून्य के गोल संकेत चिन चियु-साओ (1247 ई०) कृत सु शु चियू चांग में छपा पाया जाता है। लेकिन अनेक लोगों का विश्वास है कि इसका उपयोग पहले से ही, इसके पहले वाली शताब्दी में, आरम्भ हो गया था। सामान्य विचार है कि यह भारत से सीधे लाया गया जो सर्वप्रथम ग्वालियर में भोज देव (870 ई०) अभिलेख में पाया गया। लेकिन नीढम के अनुसार इस संचरण के लिए कोई सकारात्मक प्रमाण नहीं है और इसका यह रूप उन दार्शनिक चित्रों से (12वीं सदी में) लिया गया जो नियोकन्फ्यूशियन्म को अधिक प्रिय है और नीढम यह कहते हैं कि शुंग गणितज्ञों के पास पूर्ण विकसित संकेत थे जैसा कि घटाने की क्रिया 1,470,000 − 64,464 = 1,405,536 को इस प्रकार दिखाया गया है—

1 4 0 5 5 3 6 1 4 7 0 0 0 0

6 4 4 6 4

प्राचीन भारतीय संख्याओं की जो सारणियाँ तैयार की गई हैं उनसे भारतीय संख्याओं में यह देखा जा सकता है कि अशोक (ई० पू० तीसरी सदी) के समय से अब तक हिन्दू-अरबी संख्याओं का विकास स्थिर गति से चलता रहा। यह बात उल्लेखनीय है कि इन सभी प्रणालियों में पहले तीन पूर्णांक चीनी संख्याओं की तरह ही हैं, कुछ प्रणालियों में 4 के लिए गुणा (×) का चिन्ह (नानघाट अभिलेख 150 ई० पू० या क्षत्रप सिक्कों पर पाई जाने वाली श्रेणी में ब्राह्मी लिपि में 200 ई०) पाया गया है। लेकिन लगभग सभी में 10, 20, 30, 40, 100 आदि के लिए अलग-अलग संकेत थे। (इनमें कोई स्थानीय मान का घटक नहीं था) और जैसा कि नीढम कहते हैं—इस तरह का उपयोग इतने लम्बे समय तक चला कि स्थानीय मान की गणित स्पष्ट न हो सकी।

भारत में शून्य का प्रथम पुरालिपिक प्रमाण नवीं सदी के अन्त में मिलता है किन्तु नीढम के अनुसार इंडोचीन और दक्षिण पूर्व एशिया के अन्य भागों में यह इससे 200 वर्ष पूर्व मिल चुका था। इसके प्रकाश में भारत में स्थानीय मान के उपयोग से सम्बन्धित साहित्यिक पुरा तथा पुरालिपिक प्रमाण विवादास्पद बन चुके हैं। 500 ई० से पहले शून्य तथा स्थानीय मान का विकास माना जाता था, यह कभी भी पूर्णरूपेण सन्तोषप्रद नहीं रहा क्योंकि भारतीय इतिहास का क्रम अनिश्चित तथा दिनांकित अभिलेखों की कमी है।

केयी तिथियुक्त अभिलेखों की गहन परीक्षा द्वारा स्थानीय मान को 800 ई० पू० से नहीं ले जा सके। लेकिन कोएडीज (Coedes) ने यह बताया कि इण्डोचीनी अभिलेखों में स्थानीय मान बहुत पहले (कम्बोडिया 604 ई०, चम्पा 609 तथा जावा, 732 ई०) उपयोग होता था। उन्होंने संकेताक्षरों का उपयोग किया जिसमें हर अक्षर का एक निश्चित संख्यात्मक मान था।

चुयान ती सा द्वारा 718-729 ई० में सम्पादित खगोल तथा ज्योतिष विज्ञान के महान ग्रन्थ खाई-युयान चान चिंग में शून्य का वर्णन है। इस पुस्तक के एक हिस्से में जिसमें चियू चिन कैलेन्डर के बारे में है, भारतीय गणना विधि पर भी एक खण्ड है।

नीढम द्वारा प्रस्तुत सभी सामग्री के आधार पर मैं निम्नलिखित निष्कर्ष निकालता हूँ : संख्या, स्थानीय मान तथा शून्य की संकल्पना प्रारम्भिक तौर पर

भारत में विकसित हुई। यह बताना कठिन है कि किस स्थान पर यह संकल्पना विकसित हुई या वह कौन महान गुरु था जिसने पहले पहल इसका सूत्रपात किया। चूंकि गणितीय प्रक्रियाएँ—जोड़, घटाना, गुणा, भाग सभी सर्वमान्य रूप में उपयोग में लाई जाती थीं, इसलिए स्थानीय मान और 'शून्य' को भारत में सर्वमान्य रूप में अंगीकार किया गया। भारत से यह संकल्पना इण्डोचीन, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा और अन्य पूर्वी स्थानों मे फैली जहाँ भारतीय पहले ही अपनी संस्कृति ले जा चुके थे। चीनी भी इसके सम्पर्क में आये और इस प्रकार शून्य, स्थानीय मान और संख्याओं की संकल्पना चीन में बौद्ध धर्म के फैलने के पहले पहुँची। यह सुखद संयोग है कि चीन ने अपने रिकार्ड लिखने की कला, चित्रकला, पुरालिपि और यान्त्रिक प्रतिभा को सुरक्षित रखा जिनका उद्गम भारत में था।

दशमलव भिन्नों का सर्वप्रथम उपयोग क्षेत्रमिति (पैमाइश) सम्बन्धी इकाइयों में हुआ। उदाहरण के लिए 1 पद=14 अंगुली, 1 अंगुलि=34 तिल। इस प्रकार शुल्ब सूत्र में $\sqrt{(450)}$ का मान 21 अंगुलि 7 तिल बताया गया है, पुनः $\sqrt{2}$ के मान को श्रेणी रूप दिया गया है।

$$\sqrt{(450)}=21\frac{7}{34}=21.21$$

$$\sqrt{2}=1+\frac{1}{3}+\frac{1}{3.\ 4.\ 34}$$

$$=\frac{577}{408}=1.4142156$$

दशमलव प्रणाली के विकास से सम्बन्धित अन्य देशों के दावे के बारे में यहाँ बहस नहीं करूँगा। नीढम ने केवल चीनी योगदान के परिप्रेक्ष्य में इसकी चर्चा की है। उनके अनुसार दशमलव को स्थानीय मान का ज्ञान मो चिंग (मोहिस्ट कैनन) में पाया जाता है जिसका काल 330 ई० पू० है। यह निम्न प्रकार है —

Ch 59/37/51 दशमलव संकेत

C 'एक' दो से कम है और फिर भी 5 से अधिक है। यह व्याख्या 'स्थान निर्धारण (चीयेन व्सी) के अन्तर्गत दी गई है

CS पाँच के भीतर एक है (एक है क्योंकि 5 के लिए छड़ संख्याएँ 11111 हैं फिर) भी 'एक' में 'पाँच' है क्योंकि हर संख्या छः में पाँच है) तथा दहाई में एक क्षैतिज दण्ड '10' के बराबर। ऐसा कहा जा सकता है कि यह 5 के दो संकेतों के बराबर है।

इसके द्वारा नीढम यह कहना चाहते हैं कि स्थानीय मान का विचार भले ही अस्थाई रूप से नष्ट हो गया हो या पूर्णरूपेण न फैला हो लेकिन यह चीन में 'सुन त्जू सुआन चिंग' से पन्द्रह सौ वर्षों पहले ही ज्ञात रहा है। नीढम के अनुसार चीन की मानचित्र कला भी बताती है कि दशमलव प्रणाली थी। फेई हिसू (Phei Hsiu) तीसरी सदी ई० के काल से ही मानचित्र आयताकार बनते थे और हर श्रेणी 100 ली की थी। चिया तान से होकर आठवीं सदी में यह परम्परा पत्थर पर उत्केरित नक्शों से (1137 ई०) उच्चतम स्थान पर पहुँच गयी। भारत में इस तरह की मानचित्र कला का यथेष्ठ प्रमाण यूरोपीय लोगों के आने के पहले का नहीं मिलता। यहाँ तक कि यूरोप में भी, यदि इराटोस्थेनैस तथा टालेमी के मात्रात्मक भूगोल को छोड़ दें जो तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में पोर्टोलन चार्ट के आरम्भ तक दशमलव प्रणाली का पता नहीं था। नीढम चीन में दशमलव प्रणाली को 14वीं सदी ईसा पूर्व तक ले जाते हैं। इस मामले में चीनी प्रारम्भिक सभ्यताओं में अद्वितीय थे।

भारत में ज्यामिति की प्रथम शुरुआत हवन वेदिकाओं के बनाने के साथ हुई जो वर्गाकार, आयताकार, गोल या अर्धगोलाकार होती थीं तथा उनका क्षेत्रफल निश्चित होता था। मापने की इकाई एक पुरुष थी जिसका अर्थ था कि यज्ञकर्ता द्वारा अपने सिर के ऊपर हाथ को ऊपर उठाने से जो लम्बाई प्राप्त होती थी। किसी तरह से यह विचार आया कि वेदिकाएँ वर्गाकार या गोल हों परन्तु क्षेत्रफल वही रहे। इस सन्दर्भ में उस समय लोगों ने वर्ग को आयत तथा आयत को वर्ग में बदलने तथा वर्ग को उसी क्षेत्रफल के गोले में बदलने का कार्य किया। इस तरह से उन्होंने अपनी ज्यामिति विकसित की। उन्होंने ज्ञात किया कि वर्ग का क्षेत्रफल भुजा का वर्ग करके तथा आयत का क्षेत्रफल लम्बाई में चौड़ाई का गुणा करके ज्ञात कर सकते हैं और फिर एक आयत को उसी क्षेत्रफल के वर्ग में बदलने हेतु वैदिक युग के प्रसिद्ध ज्यामितिविद् बौधायन ने अपना प्रसिद्ध प्रमेय (मैं उसे बौधायन प्रमेय कहता हूँ) दिया जिसमें उन्होंने आयत की भुजाओं तथा विकर्ण में एक सम्बन्ध बताया। यह प्रमेय उसी तरह से है जैसे कि

पाइथागोरस द्वारा समकोण त्रिभुज के बारे में है। बौधायन का कहना था—“आयत के विकर्ण उन दोनों क्षेत्रफलों को बता सकते हैं जिन्हें लम्बाई और चौड़ाई अलग-अलग बतायेंगी। दूसरे शब्दों में, एक आयत के विकर्ण पर बने वर्ग का क्षेत्रफल इसकी दोनों भुजाओं पर बने वर्गों के योग के बराबर होता है।” बौधायन न केवल अपने प्रमेय के लक्षणों से सन्तुष्ट था अपितु उसने अन्य उपपत्ति युक्त आयतों के बारे में भी बताया :

$$3^2+4^2=5^2;\ 12^2+5^2=13^2;\ 15^2+8^2=17^2;$$
$$7^2+24^2=25^2,\ 12^2+35^2=37^2;\ 15^2+36^2=39^2$$

सम्भवत: प्रारम्भिक उपपत्तियुक्त आयत तैत्तिरीय संहिता में दिया गया है। “यह सम्पूर्ण पृथ्वी वेदी है लेकिन वे जितने का उपयोग कर सकते हैं उतने को नाप सकते हैं तथा इस पर यज्ञ कर सकते हैं। इसकी पृष्ठ तिर्यक रेखा तीस फिट, पूर्वी रेखा 66 फिट और सामने की तिर्यक रेखा 24 फिट है। यह सब दहाई बनाते हैं (जो 90 है)

$$15^2+36^2=39^2,\ 15+36+39=90$$

इसी तरह का अवतरण शतपथ ब्राह्मण (X.2.3.4) में है।

वर्ग के विकर्ण के लिए $\sqrt{2}$ का मान तथा इसी प्रकार की अन्य करणियों (Surds) के मान जानने की आवश्यकता हुई जिससे वर्ग उसी क्षेत्रफल के आयत में बदला जा सके। ये मान प्राचीन वैदिक ग्रन्थ ‘शुल्ब सूत्र’ में अत्यन्त शुद्धता के साथ दिये गये हैं। शुल्ब का अर्थ है रस्सी। पूरे ज्यामितीय निर्माण के लिए आवश्यक उपकरण थे (i) लम्बी रस्सी जिसे शुल्ब या रज्जु कहते हैं (ii) एक बाँस जिसे चाप के रूप में मोड़ा जा सके (वेणु या वंश) (iii) पेग या शंकु जिसे जमीन पर स्थिर करके रस्सी से नाप ली जा सकती थी तथा चाप खींचा जा सकता है। कुछ बड़ी हवन वेदिकाएँ पक्षी के शक्ल बाज की तरह थीं। बलि की वस्तु बलिकर्त्ता को स्वर्ग ले जाने वाली होती थी। इसलिए यह तर्क दिया जाता था कि बलि (यज्ञ) ऐसी वेदी में की जाय जिसका स्वरूप उड़ता पक्षी जैसा हो जो बलिकर्त्ता को स्वर्ग ले जा सके।

भारतीय गणित से सम्बन्धित हमारे सभी ग्रंथों में अन्तिम परिणाम या विधियाँ दी गयी हैं तथा उपपत्ति के चरणों की उपेक्षा की गई है। इसलिए

भारतीय गणितज्ञ भावी पीढ़ी के लिए यूक्लिड की ज्यामिति जैसा ग्रंथ नहीं दे पाये जो कि ज्यामितीय सिद्धान्तों, तर्कों में अति उत्तम रचना है। इसका संस्कृत अनुवाद आधुनिक समय के एक प्रमुख ज्योतिषविद् जगन्नाथ द्वारा किया गया है जिसे मैंने देखा है। लेकिन यूक्लिड की विधियाँ भारत में कभी भी लोकप्रिय नहीं हुईं। मंगोल युद्ध के समय तेरहवीं सदी में चीन में यूक्लिड की विधियों की सराहना होने लगी थी। नीढम ने अपने लेखों में पाइथागोरस के प्रमेय की चीनी उपपत्ति प्रस्तुत की है। हान पुस्तकों के परवर्ती समालोचक जैसे लियु हियु और चाओ चुन-चिंग ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिससे यह लगता है कि वे जिन क्षेत्रों की तुलना कर रहे हैं उसके लिए विभिन्न रंगों का उपयोग करते थे। चीनी धीरे-धीरे ज्यामितीय समस्याओं में निगमनीय तकनीकों के उपयोग से अवगत हुए। याँग हुई (1275 ई०) ने अपनी 'हसू कू चाई ची स्वान का' और 'स्वान का थुंग प्येन पेन मो' नामक पुस्तकों में अनुभावात्मक विधियों के प्रति दुख प्रकट किया है। उसने इसका सैद्धान्तिक प्रमाण दिया कि किसी सामान्तर चतुर्भुज के व्यास में खींचे गये सामान्तर चतुर्भुजों के पूरक एक दूसरे के घटक बराबर होते हैं (यूक्लिड की प्रथम पुस्तक का 43वाँ भाग)। इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय मस्तिष्क निगमनात्मक नहीं था। बिना तार्किकता के इतने प्रमेयों को विस्तारदे पाना सम्भव नहीं था। खगोल विज्ञान तथा बीजगणित में भी उन्होंने अपने परिणामों या कथनों की कोई उपपत्ति नहीं छोड़ी है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने परिणाम बाहरी स्रोतों से प्राप्त करके अपने में रख लिया और उन्होंने इन कार्यों की उपपत्ति तार्किक विधि के बिना पा ली थी। भारतीय मस्तिष्क हमेशा से ही निगमनात्मक, तर्कपूर्ण तथा अति के दो छोरों को छूने वाला था। भारतीय मस्तिष्क के प्रति यह कहना अन्याय होगा कि उन्होंने ज्यामिति, बीजगणित तथा ज्योतिष में बिना उपपत्ति तथा गहराई में गये ही सिद्धान्तों का विकास कर लिया। जो वस्तुएँ इतनी स्पष्ट हों उनके बारे में वे तर्क देकर सिद्ध करना आवश्यक नहीं समझते थे। जब ऐसा कह रहा हूँ तो इसका तात्पर्य यूक्लिड के तरीकों की सार्थकता को कम करना नहीं है क्योंकि इसके समान मानव इतिहास में दूसरा तर्क मिलना कठिन है।

मेरे पास क्षेत्रमिति (पैमाइश) तथा त्रिकोणमिति के क्षेत्र में भारतीय योगदान के बारे में विवेचन करने का समय नहीं है। भारतीय ज्योतिष की पुस्तकों में R-कोज्या की सारणियाँ दी गई हैं। इसके लिए मैं चाहूँगा कि मेरे

मित्र वाराहमिहिर के 'पंच सिद्धान्तिक', ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त', भास्कर प्रथम के 'महाभाष्करीय' और 'लघु भाष्करीय' और आर्यभट प्रथम के 'आर्यभटीय' को पढ़ें जिनका भारतीय ज्योतिष में बहुत योगदान है। अरब, भारतीय और यूनानी ज्योतिष में बहुत कुछ देने या लेने के लिए है। भारतीय ज्योतिष पर प्रत्यक्ष चीनी प्रभाव का पता लगाना कठिन है किन्तु चीनी ज्योतिष ने भारतीय ज्योतिष की कई संकल्पनाओं को आत्मसात कर लिया है।

3 प्राचीन भारत की वैज्ञानिक भावना*

मैं. बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग के अपने मित्रों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे प्राचीन भारत की वैज्ञानिक भावना तथा सम्बन्धित विषयों पर तीन व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया है तथा इसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया है। मैं कोई प्रशिक्षित इतिहासविद् नहीं हूँ अतः मैं अपनी सीमाएँ जानता हूँ। पिछले कई वर्षों से मैं अपनी ही इच्छा से प्राचीन भारत के विभिन्न कालों की, विशेषकर विज्ञान के क्षेत्र की, सामग्री एकत्र करता रहा हूँ तथा अपने कतिपय विचारों को प्रकाशित करने का मैंने दुस्साहस भी किया है। हमारे देश में विज्ञान का इतिहास विषय उपेक्षित रहा है तथा इसको जीवंत बनाने की दिशा में हाल ही में प्रयास आरम्भ हुए हैं। उदाहरणार्थ, दक्षिण एशिया में विज्ञान तथा तकनीकी का इतिहास' विषय पर नई दिल्ली में नवम्बर सन् 1950 में युनेस्को के सहयोग से एक गोष्ठी आयोजित हुई तथा राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी ने भी इस दिशा में रुचि लेना आरम्भ कर दिया है। हमारे कुछ विश्वविद्यालयों में संस्कृति और सभ्यता के इतिहास के साथ विज्ञान के इतिहास का पाठ्यक्रम भी सम्मिलित किया जा रहा है।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० नीडम ने हाल ही के वर्षों में विज्ञान और सभ्यता में चीनियों के योगदान के विषय में पर्याप्त लेखन किया है। कुछ वर्षों पहले मैं इन प्रोफेसर से कैम्ब्रिज में मिला था, विभिन्न देशों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में किये जाने वाले दावों की विश्वसनीयता के विषय में उनसे काफी विचार-विमर्श भी किया था। उन्होंने अपने सम्पूर्ण कार्य की योजना सात संग्रहणीय खण्डों में बनाई—पहला खण्ड सन् 1954 में छपा, दूसरा खण्ड वैज्ञानिक विचारों

*बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग में 1975 में दिया गया प्रथम व्याख्यान।

के इतिहास के बारे में था (1956), तीसरा खण्ड गणित तथा स्वर्ग और पृथ्वी विषयक विज्ञान के विषय में था (1959), इसके बाद वाले खण्ड भौतिकी तथा भौतिक तकनीकों, रसायन और रासायनिक तकनीकों, जैविक और जैविक तकनीकों के बारे में थे तथा अन्तिम खण्ड सामाजिक पृष्ठभूमि के विषय में था। विज्ञान और तकनीकी में किसी देश के योगदान के साथ न्याय करने के लिए उस देश की भाषा संरचना का परीक्षण, भूगोल का पुनरीक्षण, उसके निवासियों का लम्बा इतिहास तथा दूर और पड़ोस के देशों से सम्पर्क आदि को ध्यान में रखना होता है। हममें से बहुत जो आधुनिक विज्ञान और तकनीकी से सुपरिचित हैं वे प्राचीन विज्ञान और संस्कृति के बारे में नाना भ्रान्तियों से ग्रस्त हैं। जैसा कि नीढम खुलकर कहते हैं "विचारों और संस्कृतियों के अनेक इतिहासकार आज भी आँख मूँदकर कल्पना कर लेते हैं कि एशियाई सभ्यता के पास ऐसा कुछ भी नहीं जिसे हम विज्ञान कहें। यदि उन्हें कुछ अधिक जानकारी हुई तो वे यह कहते हैं कि इन देशों में मानवीय विज्ञान तो था किन्तु प्राकृतिक विज्ञान नहीं था। विज्ञान तो तकनीकी ज्ञान था किन्तु सैद्धान्तिक विज्ञान नहीं था, या यह कहते हैं कि वे आधुनिक विज्ञान नहीं उत्पन्न कर सके। (प्राचीन और मध्य-युग के विज्ञान का विरोध करते हुए)।" निस्सन्देह आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप हमारे पास आज बहुत कुछ है लेकिन प्राचीन देशों के पास ऐसा कुछ भी नहीं था। वर्तमान दशक में बहुत सी ऐसी चीजें हमारे पास हैं जो 50 वर्ष पहले नहीं थीं। लेकिन इतिहास की भावना तथ्यों का एकत्रण नहीं है। यदि हम ठीक से समझें तो इतिहास अत्यन्त स्पष्ट सत्य को सामने लाता है। हम आज जो भी हैं वह हमारे पूरे अतीत का परिणाम है, हममें से कोई भी इस संसार से अलग नहीं है चाहे वह अकेले हो या समूह में। कोई भी संस्कृति पूर्णतया न तो चीनी है, न भारतीय, न यूनानी, न बेबीलोनी या आधुनिक (यूरोपीय या अमेरिकन)। मनुष्य ने वर्तमान स्थिति पाने के लिए प्रयास किया है और इस अर्थ में विज्ञान आज ही नहीं अपितु हमेशा से अन्तर्राष्ट्रीय रहा है। यदि एक ओर किसी राष्ट्र के लोगों ने प्रचुर योगदान किया है तो दूसरी ओर दो या अधिक राष्ट्रों द्वारा एक ही योजना पर स्वतन्त्र रूप से थोड़ी सी स्थानीय भिन्नताओं के साथ किया गया संयुक्त योगदान भी है। कुछ मूलभूत समस्याओं में एक निरन्तर सहयोग भी रहा है। कभी-कभी विरोधी पक्ष का भी सहयोग मिला है। भारतीय खगोलविदों ने समस्याओं को एक निश्चित मॉडल के अनुसार हल किया, यूनानियों ने भिन्न मॉडल का प्रयोग किया, दोनों मॉडलों से की गई

गणनाएँ भिन्न थीं। खोजबीन करने पर एक ऐसी स्थिति आई जिसमें वे सत्य के निकट पाई गयीं। आधुनिक विज्ञान में यह दैनन्दिन घटना है। हम आज की आधुनिक पश्चिमी सभ्यता पर गर्व कर सकते हैं लेकिन प्राच्य या एशियायी देशों द्वारा किये गये प्रेक्षणों को भुलाया नहीं जा सकता। अस्यवामीय सूक्त (ऋग्वेद I, 164) के द्रष्टा वैदिक युग विषयक कुछ प्रारम्भिक सत्य का उद्‌भासन करते हैं। इस सूक्त के एक श्लोक में लिखा गया है—सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतम (I, 16.14)—यह सूर्य की दो आँखों की ओर संकेत है जो रजस से लिपटे या आवृत होकर गति करते हैं। सायण ने यास्क की व्युत्पत्ति के आधार पर रजस का अनुवाद जल के वादल के रूप में किया है, लेकिन और अधिक स्पष्टता से यह सूर्य के धब्बे के रूप में कहा जा सकता है, इनकी गतियाँ आवर्तक होती हैं (I, 164 : 14)। आधुनिक भाषा में ये सूर्यमण्डल के कलंक का संकेत करते हैं। चीनी भी सूर्य कलंक से परिचित थे। उनके बारे में नीढम का कहना है—यूरोपियों द्वारा सूर्य कलंक के बारे में जानकारी से करीब डेढ़ हजार वर्ष पूर्व से ही वे इसका अंकन करते जा रहे थे। दीर्घतमस् शायद अत्यन्त विख्यात ऐतिहासिक व्यक्ति था जिसने वैदिक ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी की गतियों की खोज करने के लिए कठिन श्रम किया।

महान प्रश्नों के विषय में उत्सुकता ही वैज्ञानिक भावना है और यह जिज्ञासा की ओर ले जाती है। किसी एक समस्या के प्रति दृष्टिकोण युग-युग में पृथक होगा और समाधान की यथार्थता भी वदलेगी लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण है समस्या को उठाना। जब ऋग्वेद के द्रष्टाओं ने निम्न प्रेरक पंक्तियाँ पढ़ीं तो उनकी उत्सुकता बढ़ती गई (ऋग्वेद I, 164.4-7)

आदिम मनुष्य को पैदा होते किसने देखा ?

वस्तु में क्या निहित है जो अपदार्थ को धारण करता है ? पृथ्वी से साँस और रक्त मिलता है परन्तु आत्मा कहाँ है ? कौन मनीषियों से यह पूछेगा ?

अपरिपक्व तथा मन में अनिश्चित मैं उन वस्तुओं के बारे में पूछता हूँ जो देवताओं से भी छिपी हैं।

कौन से सात धागे हैं जिनको मनीषियों ने सूर्य को ढकने के लिए फैलाया है जिसमें सभी टिके रहते हैं।

मैं अज्ञानी के रूप में मनीषियों से जानना चाहता हूँ जो (सत्य को) जानते हैं, ज्ञानी के रूप में ज्ञान प्राप्त करने के लिए नहीं पूछ रहा, वह एक अकेला क्या है जो इन छः मण्डलों को अजन्मे रूप में थामे हुए है।

जो इस (सत्य) को जानता है वह तुरन्त इसे बतला दे, सुन्दर लगातार गतिशील (सूर्य) की रहस्यमय स्थिति, किरणें अपना दूध उसके सिर पर गिराती हुई उसके स्वरूप को तेज से भरती, उन्होंने मार्गों द्वारा जल पी लिया है (जिसके द्वारा उन्हें भरा गया था)।

इस युग के वैज्ञानिक-दार्शनिकों को कवि कहा जाता है (जिसे उपर्युक्त श्लोकों में मनीषी कहा गया है, कवि द्रष्टा, मनीषी, बुद्धिजीवी, बिद्वान, कभी-कभी वह विप्र भी कहा जाता है)। मैं उन प्रश्नों से आपको बोझिल नहीं करूँगा जो इन ज्ञानियों द्वारा समाधान के लिए रखे गये थे। बहुत से प्रश्न हैं जो अभी भी अनुत्तरित हैं। वास्तव में इनके समाधान करने के प्रयास के साथ ही विज्ञान और दर्शन का विकास हो सका। ऐसे ही रहस्यमय प्रश्नों में से एक प्रश्न वेद की निम्न पंक्तियों में है—

"हे मरुतो ! इस बड़े क्षेत्र की सीमा कहाँ है (जहाँ से तुम आये हो), उसका आदि विन्दु कहाँ है जहाँ आप जा रहे हैं, कब आप घनी वाष्प को हल्की घास की तरह छितराते हो तथा वज्रपात द्वारा चमकीले बादल को नीचे पटकते हो (ऋग्वेद I, 168.6)।

महान प्रश्नों का उत्तर समय-समय पर भिन्न-भिन्न तरीकों से दिया जाता रहा है तथा किसी एक समय में प्रचलित प्रकृति विषयक दार्शनिक संकल्पना उस समय के भौतिक विज्ञानों के विकास पर काफी प्रभाव डालती है और तब प्राय: हमारे पास दो प्रकार के हल होते हैं : वैज्ञानिक और दार्शनिक। ये दोनों दृष्टि-कोण भिन्न नहीं होने चाहिए। दोनों ज्ञात से आरम्भ होकर हमे अज्ञात की ओर ले जाते हैं। तो भी इन दोनों स्रोतों से होकर विविध शास्त्र बढ़ते रहे। वैज्ञानिक दृष्टिकोण में अनुभवों और प्रेक्षणों को सत्य और वास्तविक माना जाता है। तब एक सैद्धान्तिक तन्त्र विकसित करने का प्रयास किया जाता है जिसके द्वारा प्रेक्षण के तथ्यों को सहसम्बन्धित करके परिणाम प्राप्त किया जाता है। दार्शनिक उपाय में एक प्राकृतिक सामान्य विचारधारा को भी विशेषरूप से स्वीकृत ऐतिहासिक रूप दे दिया जाता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रधानतया यथार्थवादी दृष्टिकोण है

जबकि दार्शनिक दृष्टिकोण प्रेक्षणों की यथार्थवादी प्रकृति को भी अस्वीकार कर सकता है तथा यथार्थता और समाधान की सम्भावना पर भी प्रश्नचिन्ह लगा सकता है। किन्तु अर्वाचीन प्रवृत्ति इन दोनों दृष्टिकोणों को यथासम्भव पास-पास लाने की है। समस्या के विश्लेषण में दर्शन वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना रहा है तथा विज्ञान धीरे-धीरे अमूर्त बनता जा रहा है।

इन दो दृष्टिकोणों की भिन्नता को खगोलीय पिण्डों की गति के सिद्धान्त में देखा जा सकता है। सोलहवीं शताब्दी में कोपर्निकस सिद्धान्त, जिसमें पृथ्वी को सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते बताया गया था, तारों की स्थिति के सहसम्बन्ध को स्थापित करने में उपयोगी सिद्ध हुआ लेकिन यूरोप में इसे "दार्शनिक सत्य" नहीं माना गया क्योंकि यह विचार उस समय के उस दार्शनिक विचार का विरोध कर रहा था जिसके अनुसार पृथ्वी ब्रह्माण्ड के केन्द्र में बताई गयी थी। यदि मनुष्य सृष्टि का लक्ष्य यानी पूर्णता की सर्वोच्च उपलब्धि बन जाता है और यदि यह मनुष्य अकेले पृथ्वी पर रहे तो सम्पूर्ण जैविक और खगोलीय उद्विकास मानव-केन्द्रित तथा पृथ्वी केन्द्रित (भू-केन्द्रीय) बन जायेगा। इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में यह विश्वास करना कठिन है कि मनुष्य जैसा प्राणी अकेले इस धरती पर विद्यमान है। लेकिन कोई यह नहीं जानता कि वह अन्यत्र कहाँ विद्यमान है।

दार्शनिक संकल्पनाएँ भी समय-समय पर परिवर्तित होती रही हैं। मध्य युग में प्राकृतिक घटनाओं को सादृशता के रूप में देखा जाता था जो अधिकतर जानवरों तथा मनुष्यों के व्यवहार पर निर्भर करता था। उदाहरणार्थ, आकाशीय पिण्डों तथा टूटते तारों की गति को जीवित प्राणियों की क्रियाओं के रूप में व्यक्त किया जाता था। इसे हम जीवपरक विचारधारा कह सकते हैं। गैलीलियो तथा न्यूटन द्वारा सत्रहवीं सदी में यान्त्रिकी में की गयी खोज से भौतिक विचार में प्रथम महान क्रान्ति आई तथा इससे यान्त्रिकी विचारधारा का जन्म हुआ जिसमें सारी घटनाओं की व्याख्या उत्तोलक या पहिये जैसी सामान्य मशीनों (यन्त्रों) के रूप में की गई। आज भी स्थूल या सूक्ष्म जगत की समस्याओं की विवेचना कतिपय मॉडलों की कल्पना करके तथा फिर इन्हें स्थैतिकी या गतिकी विज्ञान के परिचित नियमों पर आरोपित करके की जाती है। गैसों के गतिकी सिद्धान्त में परमाणु को एक नितान्त गोल गेंद मान लिया जाता है जिसका एक निश्चित वेग, निश्चित गति होती है जो बर्तन की दीवालों से टकरा कर लौटता

है तथा गैसीय तन्त्र में एक दबाव उत्पन्न करता है जिसकी गणना की जा सकती है। कुछ इसी तरह की गति का नियम स्थूल संसार में तारापिण्डों की गति की व्याख्या करने में लागू होता है। भारतीय खगोलविद् कुछ कम या अधिक इसी आधार पर अपनी गणनाएँ करते रहे। उन्होंने बल की प्रकृति की परवाह नहीं की, उन्हें गुरुत्व का नियम नहीं ज्ञात था फिर भी उनके पास सरल, त्रिविमीय मॉडल था और इस तरह से भारतीय खगोलविदों ने न केवल रेखीय ज्यामिति और त्रिकोणमिति का विकास किया अपितु तीनविर्मीय गणित की आधारशिला भी रखी। शुद्ध गणित की गहराई में पहुँचे बिना वे यह कार्य पूरा नहीं कर सकते थे लेकिन यह दर्शाने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है कि वे इस क्षेत्र में किस तरह आगे बढ़े। लगध, आर्यभट्ट प्रथम और ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ यह स्पष्ट करते हैं कि गणितीय क्रियाओं में उन्हें उल्लेखनीय प्रवीणता प्राप्त थी। शुद्ध गणित में पूर्णता प्राप्त किये बिना वे खगोलविज्ञान में इतना प्रभावशाली प्रयोग कभी नहीं कर पाते। गणित का उपयोग प्रथम बार खगोलविद्या में हुआ। निस्सन्देह इसे भौतिक-रासायनिक समस्याओं में हमारे इतिहास में प्रयुक्त नहीं किया जा सका। पृथ्वी, चन्द्रमा और ग्रहों की गति के लिए गणनाएँ तो की जा सकती थीं किन्तु परमाणुओं तथा अणुओं के लिए नहीं। छायाओं की समस्या पूर्ण या अर्ध ग्रहण को समझाने के लिए हाथ लगाया गया लेकिन प्रकाशिकी (optics) अविकसित ही रही। समतल तथा वक्रित काँच की कुछ-कुछ जानकारी थी परन्तु पुराने लोगों ने सामान्य उपयोग के लिए प्रकाशिकी को विकसित करने के लिए प्रारम्भिक ज्यामिति तक को प्रयुक्त करने की परवाह नहीं की। इसीलिए वे सक्सटेन्ट और टेलीस्कोप नहीं बना सके जो उन्हें अन्तरिक्ष खोज में सहायता देते, न ही वे सूक्ष्म संसार के रहस्यों की खोज हेतु सूक्ष्मदर्शी विकसित कर पाये।

हाँ, यान्त्रिक विचार-धारा को काफी सफलता मिली। खोजों के सभी क्षेत्रों में मॉडलों को सुझाया गया तथा यान्त्रिकी के नियमों को बड़ी सफलता के साथ सम्प्रयुक्त भी किया गया। इस तकनीक की उपयोगिता 1870 के लगभग चरम विन्दु पर पहुँच गयी। रेडियोसक्रियता के क्षेत्र ने यान्त्रिकी विचारधारा को चुनौती दी। 1905 में आइन्स्टाइन ने सापेक्षता का सिद्धान्त दिया। यह स्पष्ट हो गया कि हम एक नये युग में प्रवेश कर रहे हैं। जिस प्रकार न्यूटन सर्वांगिक भौतिकी से यान्त्रिक भौतिकी का संक्रमण युग लाने में कारणस्वरूप बना रहा उसी तरह से आइन्स्टाइन ने एक युग की आधारशिला रखी—यान्त्रिकी से प्रकृति के गणितीय वर्णन का युग। हाल ही के वर्षों में गणित काफी परिवर्तित हुआ

है। विशेषतया आइन्स्टाइन के बाद के काल में। ठोस मॉडलों की अपेक्षा अवकल समीकरणों को हल करना महत्वपूर्ण है। तरंग समीकरणों के प्राचल तरंगों की भौतिक संकल्पना की अपेक्षा महत्वपूर्ण हैं। आज का शुद्ध गणित कई अर्थों में अध्यात्म विद्या से सर्वाधिक अमूर्त विचारों से भी अधिक अमूर्त है।

गणनाओं के सीमित दायरे में इसका कोई महत्व नहीं है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है या सूर्य पृथ्वी के चारों ओर। लेकिन पूरे सौर तन्त्र को लेने पर भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। भूकेन्द्रित विचारधारा में न केवल सूर्य अपितु मंगल, बृहस्पति, शुक्र या शनि भी पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं। यहाँ कोपर्निकस का मॉडल महत्वपूर्ण है जिसमें सूर्य केन्द्र में है तथा अन्य ग्रह इसका चक्कर लगाते हैं। भारतीय खगोलविद् इन ग्रहों की गति से भी परिचित थे। अपनी गणनाओं में कुछ कठिनाई होने पर उन्होंने कुछ असामान्य विचारधाराओं को व्यवहृत किया जो भूकेन्द्रित विचारधारा के निकट थीं। सौभाग्य से दूरी वाले ग्रह पृथ्वी तथा सूर्य दोनों से इतनी दूर थे कि इस अभाव के स्पष्ट होने पर अपने सिद्धान्तों द्वारा विवादरहित प्रेक्षण करने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। लेकिन पुनः यह गणितीय दृष्टिकोण की विजय है। इन खगोलीय गणनाओं के सन्दर्भ में भारतीयों ने प्रथम, द्वितीय और अन्य अन्तरों की महत्ता तथा सार्थकता की खोज कर ली। यह एक ओर गणितीय तकनीकी की विजय थी। यह भी आश्चर्यजनक है कि एक ओर भारतीयों ने परावर्तन, अपवर्तन तथा इसी तरह के नियमों की प्रतिज्ञा प्रस्तुत नहीं की, वे लंबन से परिचित थे लेकिन इसका प्रयोग केवल उन्होंने खगोल विद्या में किया, किसी और विज्ञान में नहीं।

यदि आप वास्तव में किसी देश की संस्कृति, सभ्यता और विज्ञान तथा तकनीकी के बारे में जानना चाहते हैं तो उसकी भाषा की संरचना की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए। हर विज्ञान अपनी क्रमबद्धता या वर्गीकरण के विज्ञान से आरम्भ होता है। यही श्रुति और शास्त्र में अन्तर है। श्रुति में शास्त्र का तत्व है परन्तु यह शास्त्र में नहीं है। किसी देश का सबसे महत्वपूर्ण और गतिशील काल (और इसीलिए मानवता का भी) तब रहा होगा जब मनुष्य ने अपने वातावरण का सर्वेक्षण, प्रेक्षणों की वस्तुओं का वर्गीकरण तथा इन्हें नाम देना आरम्भ किया होगा। भारत में मूल वैदिक भाषा से कुछ लाभ थे। भाषा अत्यधिक तरल रूप में थी जैसा कि दैवीय भाषा को होना चाहिए। शब्द निश्चित धातुओं पर आधारित थे जिनका पता लगा लेने पर उनसे नये शब्द बनाये जा

सकते थे। मनुष्य की पहली खोज इस दैवी भाषा के ताने-बाने की खोज रही होगी भले ही निरुक्त के लेखक के दावे का पूर्ण समर्थन न हो सके। वैदिक भाषा के शब्द, विशेषकर संज्ञाएँ, निश्चित धातुओं से निश्चित विधि से उपसर्ग तथा प्रत्यय लगाकर बनायी गयीं। वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों को विशेष शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और सौभाग्य से वैदिक भाषा तथा इसका ताना-बाना आश्चर्यजनक रूप से सही बैठ गया। क्लासिक संस्कृत वा वैदिक भाषा अपनी पुरानी और नयी सन्तानों के साथ वाणी (Speech) के सबसे प्रारम्भिक भण्डार को ही प्रस्तुत करती है। संस्कृत मनुष्य की प्रारम्भिक ज्ञात मातृ भाषा की सबसे बड़ी पुत्री है और वास्तव में लिखित प्रमाणों के द्वारा यह कहा जा सकता है कि यह अकेली पुत्री लम्बे समय से चल रही है, परिवार की अन्य छः सदस्याओं ईरानिक, हेलेनिक, इटालिक, केल्टिक, ट्यूटोनिक और लेटोस्लाविक में से किसी ने भी कोई साहित्यिक स्मृति चिन्ह नहीं छोड़े। अतः उनके मूल रूपों को उनकी अपनी पुत्री भाषाओं द्वारा उपलब्ध करायी गयी सामग्री के आधार पर पुनः सृजित करना होगा। कोई भी ऐसी भाषा नहीं है जो संस्कृत को उसकी पुरातनता और साहित्यिक प्रमाणों, व्याकरणीय संरचना की पारदर्शिता और अन्य साहित्यिक तथा भाषा विज्ञान सम्बन्धी विवरणों में पिछाड़ सके। वह एक गतिशील काल रहा होगा जब मनुष्य ने अपने आस-पास की वस्तुओं को वर्गीकृत करना तथा उनको नाम देना आरम्भ किया होगा।

कुछ साधारण वर्गीकरण पहले से ही वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध थे। उदाहरणार्थ, पशु तीन प्रकार के होते हैं : वायव्य (आकाश से सम्बन्धित, चिड़िया), अरण्य (जंगली) और ग्राम्य (पालतू) (यजु० XXXI 6)। ग्राम्य या पालतू पशु मुख्यतः पाँच हैं— गाय, घोड़ा, बकरी, भेड़ और मनुष्य स्वयं (गौ, अश्व, अजा अवि और पुरुष-अथर्वेद XI.II.9)। ये पाँच पालतू पशु धीरे-धीरे अपने किन्हीं पूर्वगामियों से विकसित हुए। आदमी मयु से, घोड़ा गौर से, गाय गवय से भेड़ उष्ट्र से (एक अज्ञात जंगली जानवर) और बकरी शरभ से (देखें यजुर्वेद XIII . 47-51)। इस उद्विकास के लिए शतपथ ब्राह्मण (VII. 5.2, 32-36) देखें। मनुष्य द्वारा जंगली पशुओं को पालतू करके अपने परिवार का सदस्य बनाना कितना कष्टकर काम रहा होगा। इन पंक्तियों को लिखकर मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि प्राचीन समय में उद्विकास का सिद्धान्त बन चुका था जैसा कि डार्विन और उसके परवर्तियों ने हमारे समय में किया है। लेकिन यह सच है कि मनुष्य मयु से ही उत्पन्न हुआ और फिर उसने गौर, गवय, उष्ट्र और शरभ को

घोड़े, गाय, भेड़ और बकरी के रूप में पालतू बनाया। पालतू बनाने की प्रक्रिया उद्‌विकास से अलग है। इस पालतू बनाने की प्रक्रिया के बाद मयु सदा-सदा के लिए लुप्त हो गया (मयुम् पशुम् मेधमग्ने जुषश्व इति किम्-पुरुषो वै मयुः किम्-पुरुषमग्ने जुषश्व इत्येतत्-शतप ब्रा० VII. 5.2.32)। यहाँ किम्पुरुष का अर्थ हिजड़ा या नपुंसक नहीं अपितु मनुष्य के समान ही मनुष्य जैसा वनमनुष्य (apeman) है। एक अन्य सूची में सात पालतू पशुओं का वर्णन है—साँड़, घोड़ा, भेंड़, बकरी, खच्चर, गधा और आदमी (शतप० ब्रा० 3.1.20, XX.5.2.8)।

मनुष्य ने न केवल विभिन्न जंगली पशुओं और जानवरों के नाम दिये (यजुर्वेद का चौतीसवाँ अध्याय इन्हीं पशुओं के बारे में है) अपितु यजुर्वेद के अध्याय 18 में दी गई शब्दावली विभिन्न समूहों की वस्तुओं का नाम रखने के उपयोग में लाई गई। इसमें धातुओं, अनाजों, नमक और इसी तरह के पदार्थों और बर्तनों की सूची है जो यज्ञकर्म में काम आती थीं तथा एक से इकतीस तक विषम संख्याओं, चार के गुणकों के रूप में 4×12=48 तक की संख्याएँ हैं। पुनः इसी अध्याय में अनेक प्रकार की गायों, बैलों तथा सांड़ों के बारे में भी सूची है। यह विषय शतपथ ब्राह्मण (देखें यजु० XVIII. 27) के पाँचवे ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है।

मैं इस काल को मानवीय क्रियाकलापों के इतिहास का सबसे महान काल मानता हूँ जब मनुष्य अपने परिवेश की प्रशंसा करने लगा और उसने सारी सामग्री को दो श्रेणियों में बाँटा (1) मनुष्य के तुरन्त उपयोग की वस्तुएँ (2) उसकी अनुपयोगी वस्तुएँ। ऐसा करते समय वह किसी तरह से यह जान गया कि कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो उसके उपयोग की न हो। उसने पाया कि सम्पूर्ण सृष्टि ही उसी के लिए है और वही सब कुछ है। इस विश्वास से एक तन्त्र बना जिसे विज्ञान या तकनीकी कह सकते हैं। ज्यों-ज्यों संस्कृति आगे बढ़ी, मनुष्य ने वस्तुओं की दो श्रेणियाँ पायीं (1) वे जो मनुष्य के लिए उपयोगी तथा प्रकृति में उपलब्ध थीं (2) दूसरी वे जिन्हें उपयोग में लाने से पहले कुछ सुधार की आवश्यकता थी। इतना ही नहीं, प्रारम्भिक समय में मनुष्य ने यह तथ्य जान लिया था कि (1) कुछ वस्तुओं को हाथ, पैर या मुँह के उपयोग से प्राप्त किया जा सकता है (2) अन्यों के लिए उसे किसी औजार की आवश्यकता होगी। इससे औजार युग (Tool epoch) आरम्भ हुआ। सभ्यता का प्रथम मनुष्य 'औजार-आदमी' ही था। पहला औजार तीखा पत्थर, काटने या तोड़ने के लिए नुकीला

पत्थर, बाँस की छड़ी/पत्थर का टुकड़ा रहा होगा। छड़ी फल तोड़ने या सुरक्षा के लिए रही होगी। मनुष्य अन्य प्राणियों से भिन्न है क्योंकि वह औजार का उपयोग करता है। कुछ वर्षों पूर्व मैं पूर्वी अफ्रीकी देशों में गया था जहाँ के संग्रहालयों में हमने वे वस्तुएँ देखीं जिसके आधार पर प्रो० लीकी ने प्रारम्भिक जावा या पिकिंग मानव को नकारते हुए पूर्वी अफ्रीका को मानव के प्रथम उद्‌भव का स्थान होने का दावा किया है। मैं भारत के लिए इस तरह के दावों में रुचि नहीं रखता, मैं यह कहना चाहूँगा कि हमारा विकास वैदिक युग से हुआ और बड़ी सीमा तक हम औजार-प्रवृत्ति के बन गये।

यजुर्वेद का एक श्लोक डेसी (deci) या सेन्टी (centi) जैसी संख्याओं का संकेत देता है (XVII . 2) तथा इससे सम्बन्धित विद्वान मेधातिथि हैं। इस तरह से 10 या उसके 12 घात तक (10^{12}) गिना जा सकता है। मैं यहाँ गणित की संख्याएँ बताने नहीं जा रहा हूँ। मैं संख्याओं को दूसरे विचार से बताना चाहूँगा। प्राचीन भारतीय समाज अत्यधिक संख्या-प्रवृत्ति वाला बन गया, मानों संख्याएँ मूलभूत सत्य हों तथा लोगों ने संख्या पर आधारित विचारधारा में रुचि लेना आरम्भ कर दिया। मैंने किसी अन्य देश के लोगों में संख्याओं के प्रति इतनी आसक्ति नहीं देखी। उन्होंने अपनी संख्या आधारित पद्धति निकाली। हम न केवल वैदिक संहिताओं में अपितु स्थान-स्थान पर इन संख्याओं के रहस्यमय उपयोग पाते हैं। यह प्रवृत्ति ब्राह्मण और उपनिषद् युगों में भी बनी रही। मैं कुछ दृष्टान्त यह दिखाने के लिए लूँगा कि किस सीमा तक संख्याएँ देश के समाज में महत्वपूर्ण बन गयी थीं।

देवता और असुर दोनों अपनी श्रेष्ठता के लिए झगड़ रहे थे और वे इसके निपटारे के लिए इस प्रकार सहमत हुए : "हम एक दूसरे से वाणी या पवित्र शब्दों द्वारा आगे निकलने की कोशिश करें। जो हमारे बोले गये शब्दों का युग्म अर्थात् पुल्लिग-स्त्रीलिंग नहीं बना पावेगा उसे हारा हुआ मान लिया जायेगा।" देवताओं ने सबसे पहले इन्द्र से आरम्भ करने को कहा।

इन्द्र ने कहा—'एक' मेरे लिए। असुरों ने कहा—'एका' हमारे लिए। इन्द्र ने कहा—द्वि मेरे लिए। असुरों ने कहा 'द्वे' हमारे लिए। इन्द्र ने कहा : त्रयः, असुरों ने कहा—तिस्रः, इन्द्र ने कहा—चत्वारः, असुरों ने कहा—चतस्रः। इन्द्र ने कहा—पंच, इस पर असुरों को युग्म नहीं मिल पाया। चार के बाद पाँच संख्या आती है जो दोनों लिंगों में एकजैसी है और इस तरह से असुर हार गये।

धीरे-धीरे संख्याएँ निश्चित विचारों और देवताओं से जुड़ती गयीं। यजुर्वेद के नवें अध्याय में हम इस तरह से उल्लेख पाते हैं : एक अक्षर से अग्नि ने प्राण को जीता, दो अक्षरों से अश्विन ने दो पैर वाला पशु जीता, तीन अक्षरों से विष्णु ने तीनों लोक जीते, चार अक्षरों वाले शब्द से सोम ने चार पैरों वाला जानवर जीता, पाँच अक्षरों की माप से पूषन ने पाँच दिशाएँ जीतीं, छः अक्षरों की माप से सवित्र ने मौसम जीते, सात अक्षरों से मरुत ने सात पालतू पशु जीते और इसी तरह आगे भी (यजु० IX. 31-34)।

अक्षर (संख्याएँ)	देवता	सन्दर्भ का विषय
1	अग्नि	प्राण
2	अश्विन	द्विपद
3	विष्णु	त्रिलोक
4	सोम	चतुष्पद
5	पूषन	पाँच दिशाएँ
6	सवितृ	छः ऋतुएँ
7	मरुत	सात पशु

कालक्रम से संख्याएँ संगत कोटियों से इतनी सम्बद्ध हो गयीं कि ये कोटियाँ ही संख्याओं को बताने लगीं। इस प्रकार ऋतु शब्द छः संख्या का पर्याय बन गया, पालतू पशु (सात पशु) सात या पाँच, प्राण पाँच आदि, आदि। दूसरी ओर विभिन्न वैदिक ग्रंथों में लिखी गयी संख्याएँ रहस्यमय समूहों के लिए थीं तथा बहुत स्पष्ट या निश्चित नहीं थीं। संख्याओं का यह रहस्य अब भी अज्ञात है।

अथर्ववेद का प्रथम श्लोक 3 तथा 7 रहस्यमय संख्याओं से आरम्भ होता है। **ये त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः** अर्थात् हर आकृति और रूप तिगुना सात है। ऋग्वेद में भी **त्रिःसप्त विष्णुलिंगका** लिखा है जिसका अर्थ तीन गुणित चमकीला (1.191.12) और फिर **त्रिःसप्तमयूर्यः** अर्थात् तीन गुणित सात मयूरी (1.191.14)। अथर्ववेद में एक स्थान पर **नर-स्त्री** सप्तशः (XIII.1.3) या तीन-सात मरुत आया है। त्रिसप्त शब्द का अर्थ तीन से सात, तीन या सात, तीन बार सात या तीन धन सात हो सकता है। ये बहुत ही सार्थक विषम

संख्याएँ हैं। यदि त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वरूपाणि बिभ्रतः को तीन सात के कई संयोगों के रूप में रखें तो इससे बहुत ही सार्थक चित्र प्रस्तुत होगा।

त्रिसप्त: 3 से 7 तक की विषम संख्या का जोड़

तीन से सात $=3+5+7=15$

तीन गुणे सात $=3\times7 \quad =21$

$\overline{36}$

तीन धन सात $=3+7 \quad =10$

$36\times10=360$

360 एक वर्ष में दिनों की संख्या है, 360 और इसके गुणक तथा उपगुणक हमारे चिन्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। रात और दिनों की संख्या कुल मिलाकर 720 मानी गयी है। आरम्भ में हवन वेदिका बनाने के लिए विभिन्न स्तरों में रखने के लिए ईंटों की संख्या का कोई दृढ़ नियम नहीं था और इसीलिए परिणाम असन्तोषजनक थे। जब देवताओं ने प्रजापति से सम्पर्क किया तो उन्होंने कहा—"मेरे सभी रूपों (सर्वाणि रूपाणि) को नीचे मत रखो (मेरे ऊपर रखो) (शतप० ब्रा० X.4.36, तुलनार्थ अथर्ववेद के विश्व रूपाणि में) लेकिन (मुझे) या तो बहुत बड़ा बनाओ या दोषपूर्ण ही छोड़ दो, और इसलिए तुम अमर नहीं बनोगे।" और इस पर जो सलाह दी गई वह इस प्रकार है—

"तीन सौ साठ घेरने वाले पत्थर (परिस्रत) रखो, तीन सौ साठ यजुष्मति ईंटें और छत्तीस इसके ऊपर, और दस हजार आठ सौ लोकमृण ईंटें रखो और फिर तुम मेरे सारे रूपों को रखकर अमर हो जाओगे (शतप० ब्रा० X.4.3.8)।

इस प्रकार संख्याएँ 360, 10,800, 36 ये सभी प्रजापति की ($108=36\times3$) पूर्ण संख्याएँ हैं।

अग्नि वेदिका भी वर्ष है (संवत्सरो ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः—शतप० ब्रा० X.5, 4.10) जैसा कि इस सन्दर्भ में हम पाते हैं:

"लेकिन वास्तव में हवन वेदिका भी वर्ष है, रातें इसे घेरने वाले पत्थर हैं, और ये 360 हैं, एक वर्ष में इसलिए 360 रातें होती हैं, यजुष्मति ईंटें संख्या में 360 हैं इसलिए दिन भी 360 हैं और 36 ईंटें जो ऊपर हैं (यथा—जो 756 यजुष्मति ईंटें बनाने के लिए आवश्यक हैं) वे 13 महीने हैं।"

पुन: हवन वेदिकाओं में 21 ब्रहृतियाँ (X.5.4.11) बताई गयी हैं अर्थात् 21×36=756, इस प्रकार प्रत्येक ब्रहृति माप 36 अक्षरों की है (त्रिसप्ताः में शामिल)। पुन: इसका अर्थ 720 से 36 अधिक इसलिए 720+36=756। ये सभी अवतरण 36 दिनों के समाविष्ट तेरहवें महीने की ओर संकेत करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण के बारहवें खण्ड में वर्ष (संवत्सर) को पुरुष माना गया है। एक वर्ष में 360 रातें होती हैं इसलिए मानव शरीर में 360 हड्डियाँ हैं, पुन: एक वर्ष में 360 दिन हैं अत: मनुष्य में मज्जा भी तीन सौ साठ हैं (शतप० ब्रा० XII. 3.2.3-4)। इस संख्यात्मक गणना में पहले के लोग इतने विश्वस्व थे कि उन्होंने मानव शरीर की हड्डियाँ भी गिन लीं।

विषम संख्याएँ विशेषतया यदि वे रूढ़ हों (1, 3, 5, 7, 11, 13) तो उनका अपना आकर्षण होता है। ऐसी ही संख्या 5 है। दूसरी संख्या तीन है। सात, तेरह आदि अन्य संख्याएँ हैं। हमारे हाथ में अँगूठे सहित पाँच उँगलियाँ हैं तथा तीन जोड़ हैं और इस तरह से जीवन्त प्राणों की संख्या अनेक वर्गीकरणों के अन्तर्गत 1, 3, 5 या 11 हो सकती है तथा इन्हें (I) प्राण (II) प्राण, अपान, व्यान (III) प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान (IV) प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कुर्म, कृकल, देवदत्त, धनन्जय तथा जीव (11 रुद्र) कहते हैं। इन्द्रियाँ भी पाँच हैं और इसी तरह से कार्य करने के लिए भी पाँच अंग हैं। अत: तन्मात्राओं यानी रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द को भी पाँच होना चाहिए और यह भी तर्क किया जाता है कि तत्वों या भूतों (आधारीय तत्वों) की संख्या भी पाँच होनी चाहिए। 'योग सूत्र' में तो इस तर्क की अति हो गई है जहाँ हम पाते हैं कि यम और नियम, मानसिक व्यवहार (वृत्तयः पंचतय्यः), क्लेशों की संख्या भी पाँच है। गौतम ने निगमनिक तर्क में पाँच शब्द प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन बताये हैं और हमने यह भी देखा कि पालतू बनाये गये पशु भी पाँच हैं और पाँच महाभूतों का सिद्धान्त भारतीय मस्तिष्क में इतना प्रभावी हो गया (आज भी प्रभावी है) कि इसने इस देश में रसायन शास्त्र के विकास को रोक दिया। यूरोप ने संकल्पनाओं का सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित कर लिया तो उसे कल्पनात्मक संकल्पनाओं से मुक्ति मिल गई और उसने यथार्थवादी मनोवृत्ति ग्रहण की। वर्तमान रासायनिक तत्वों को शुद्धता के साथ निष्कर्षित, भण्डारित तथा क्रियाओं एवं अन्योन्य क्रियाओं के लिए उपयोग में लाया जा

सकता था। तत्वों के विन्यास में भी हमारी संकल्पनाओं में संख्याएँ महत्वपूर्ण बनीं। हमारा क्वांटम सिद्धान्त एक आधुनिक मनमोहक विषय है जिसमें सुप्रसिद्ध भारतीय गणितज्ञ रामानुजन अग्रगण्य रहे हैं।

सांख्यवाद की महान खोज थी त्रिक कोटियाँ जिसमें दो छोर और मध्य हैं। इनके नाम सत, रजस, तमस हैं (श्रुति में इन कोटियों के अंतर्गत, प्रकृति के लिए लोहित, कृष्ण, शुक्ल के रूप हैं)। त्रिकवाद त्रिदोषवाद के रूप में है जो रोगों में वात, कफ, पित्त के नाम से जाना जाता है। दीर्घकाल से यह वाद रोगों की पहचान और उनके उपचार में सहायक रहा है। यह वाद मानव की एक साहसिक विजय माना जाता था। लेकिन औषधि की आधुनिक प्रणाली तभी आगे बढ़ सकी जब हमने वास्तविक प्रयास आरम्भ किये (सामान्य कल्पनात्मक, अयथार्थ तथा अ-मात्रात्मक विचार हमें दूर तक नहीं ले जा सकते थे। हमारी जिज्ञासा प्रणाली को दूर तक नहीं ले जा सकते थे)।

संख्या सिद्धान्त का एक रोचक उदाहरण विधिक विज्ञान है। ऋग्वेद में एक बहुत ही रोचक प्रहेलिका श्लोक है—चत्वारि शृंगा, त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्तहस्तासः (IV. 58.3)। यह यजुर्वेद में भी है तथा निरुक्त (XIII.7) के लेखक ने इसके ऊपर टिप्पणी भी की है। इस श्लोक का साहित्यिक अनुवाद इस प्रकार—

"उसके चार सींगे हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, (लाभ की) त्रिकबद्ध वर्षा करने वाला जोर से गर्जता है, सर्वशक्तिमान मनुष्य में प्रवेश कर गया है।"

कुछ वर्षों पहले जब मैं बंगलौर गया तो मैंने एक मन्दिर में मूर्ति देखी जो ऐसे बैल के रूप में थी। एक चार सींगों वाले ब्रह्मा का वर्णन भी ऋग्वेद में है। निरुक्त के लेखक यास्क के अनुसार चार सींग चार वेद हैं, तीन सवन—प्रातः माध्यन्दिन, तृतीय—ये तीन पैर हैं। प्रयणीय और उदयनीय दो सिर हैं (जो किसी अनुष्ठान के आदि-अन्त अंश हैं), सात छन्द गायत्री, उष्णीक, अनुष्टुभ, बृहति, पंक्ति, त्रिस्तुभ और जगती ये सात सींगे हैं। तीन बन्धन मन्त्र, कल्प और ब्राह्मण हैं। गर्जनाएँ ऋग्, यजुः (कविता), सामं (संगीत) पाठ हैं।

पतंजलि ने पाणिनि के भाष्य महाभाष्य में इस श्लोक का विश्लेषण व्याकरण के आधार पर किया है। शब्दों के चार प्रकार' नाम, आख्यात, उपसर्ग,

निपात, चार सींगे हैं, तीन काल भूत, भविष्य और वर्तमान तीन पैर हैं। दो प्रकार की ध्वनि नित्य और कार्य दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। ये तीन स्थानों—सीना, गला व सिर द्वारा बद्ध हैं। कुछ लेखक चार सींगों को चार प्रकार की वाणी परा, पश्यन्ति, मध्यमा, बैखरी बताते हैं जबकि कुछ सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग, निपात को चार सींगें बताते हैं। (**चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि** की व्याख्या इसी श्लोक में सूर्य के सन्दर्भ में भी की जा सकती है)। चार दिशाएँ उत्तर, पूरब, दक्षिण, पश्चिम चार सींगे हैं। प्रातः, मध्यान्ह और सन्ध्या (ऋग्, यजु और सामं के अनुसार) तीन पैर हैं। दिन व रात दो सिर हैं। सात किरणें (प्रकाश के सात रंग) सात हाथ हैं या सात ऋतुएँ (छः+एक अतिरिक्त) सात हाथ हैं। यह तीन स्थानों पृथ्वी, मध्याकाश और अन्तरिक्ष, पर बँधा है या ग्रीष्म वर्षा और हेमन्त तीन स्थान जहाँ पर विशेष रूप से बँधा है। जब गरज के साथ वर्षा आती है तो यह गर्जन करता है।

आपस्तम्ब, शबर और अन्य लेखकों ने इसी श्लोक को अपने-अपने विषय के अनुसार प्रतिपादित किया है।

संख्याओं की अवधारणा से हम रूपक तर्क (समुच्चयों के तर्क में) या संहिता तर्क में पहुँच गये जिसे विभिन्न समस्याओं के लिए हम सुविधाजनक हल पाते हैं। मैं इस रूपक तर्क को तैत्तिरीय उपनिषद् (इसके संघीतोपनिषद् अनुभाग से) उदाहरण लेकर बताऊँगा। रूपक को 1—अधिलोक, 2—अधिज्योतिष, 3—अधिविद्या, 4—अधि प्रजा, 5—अध्यात्म इन शीर्षकों में रखा गया है। ये महा संहिता कहलाते हैं। प्रत्येक दशा में हमें बताया जाता है कि पूर्व रूप कैसे बना है, उत्तर रूप क्या है, संधि क्या है और अंततः संधान क्या है। मैं इनको इस प्रकार सारणीबद्ध कर रहा हूँ

संहिता	पूर्वरूप	उत्तररूप	संधि	संधान
अधिलोक	पृथ्वी	द्यौ	आकाश	वायु
अधिज्योतिष	अग्नि	आदित्य	आप	वैद्युत
अधिविद्या	आचार्य	अन्तेवसि	प्रजा	प्रवचण
अधिप्रजा	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन
अध्यात्म	अधरहनु	उत्तरहनु	वाक्	जिह्वा

इस तरह के रूपक श्रुतियों (वैदिक संहिताओं) में भी पाये जाते हैं और वे ब्राह्मण ग्रन्थों में भी हैं। पिंगल सूत्रों में सात छन्द सात स्वरों, रंगों, देवताओं और गोत्रों से जुड़े हुए हैं।

अक्षरों की संख्या	छन्द	स्वर	गोत्र	देवता	रंग
24	गायत्री	षड्ज	अग्निवेश्य	अग्नि	सित (सफेद)
28	उष्णिक	ऋषभ	काश्यप	सविता	सारंग
32	अनुष्टुप	गंधार	गौतम	सोम	पिशंग
36	बृहति	मध्यम	अंगिरस	बृहस्पति	कृष्ण
40	पंक्ति	पंचम	भार्गव	मित्रवरुण	नील
44	त्रिष्टुभ	धैवत	कौशिक	इन्द्र	लोहित
48	जगति	निषाद	वसिष्ठ	विश्वेदेवा	गौर

भारतीय मनीषी जो कुछ भी सोचते थे उसे किसी निश्चित शक्ति (देवता) से जोड़ देते थे। उदाहरणार्थ, लगध के वेदांग ज्योतिष में नक्षत्रों को देवताओं से जोड़ा गया है (यजु० 32-33)। उदाहरणार्थ, कृत्तिका के देवता अग्नि हैं, रोहिणी के प्रजापति, मृगशिरा के सोम, आर्द्रा के रुद्र, पुनर्वसु के अदिति, पुष्य के बृहस्पति आदि। यजुर्वेद से पशुओं के वर्णन (अध्याय 20) तथा व्यवसायों (अध्याय 30) के वर्णन में भी रूपक तर्क मिलते हैं। इस प्रवृत्ति ने या तो कर्मकाण्ड को जन्म दिया या यह कर्मकाण्ड से उत्पन्न हुई क्योंकि भारत में कतिपय महान विज्ञानों का जन्म अनुष्ठानों से हुआ।

हमारे प्राचीन मनीषियों का अपना तर्क होता था और वे कोई न कोई तर्क विकसित कर रहे थे। अन्ततः वैशेषिक न्याय तंत्र में शास्त्र के रूप में तर्क को स्वीकार किया गया तथा यह एक निगमनात्मक तर्कशास्त्र था। यह उल्लेखनीय है कि चरक संहिता ने इस प्रणाली का उपयोग आरोग्य विज्ञान में किया, यह वाद-विवाद और तर्कों के नियम बताता है और चिकित्सा विज्ञान के लिये गये उदाहरणों द्वारा तर्क को प्रस्तुत करता है। मानव इतिहास में जो सबसे पहले महान संगोष्ठी हुई वह एत्रेय पुनर्वसु की अध्यक्षता में हुई जो औषधियों पर उस समय की वैज्ञानिक भावना का प्रमाण है।

———

4. प्राचीन भारत में परिमात्रात्मक संकल्पना*

भारत के सुदूर काल का इतिहास तिथियों की अनिश्चितता के कारण अस्पष्ट है। यह अनिश्चितता दशकों या शताब्दियों में नहीं अपितु सहस्राब्दियों में है। केवल दो तिथियाँ ऐसी हैं जो कुंजी के रूप में काम आ सकती हैं—महाभारत का युद्ध और चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल। प्रो० बी० बी० अथवाले ने 1945 में अपने एक शोध पत्र में इस विषय की व्याख्या की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि (1) कुरु युद्ध 3016 ई० पू० हुआ, कुछ खगोलीय आँकड़ों के आधार पर युद्ध मार्गशीर्ष के प्रथम अर्धांश के ग्यारहवें दिन आरम्भ हुआ, (2) 10वें दिन भीष्म शरशैया पर लेटे, (3) 18वें दिन दुर्योधन मारा गया और यही युद्ध का अन्तिम दिन था, (4) बलराम इसी दिन तीर्थयात्रा से वापस लौटे (5) बलराम ने पुष्य नक्षत्र में चन्द्रमा स्थित होने पर तीर्थयात्रा आरम्भ की तथा 42वें दिन वापस लौटे जब चन्द्रमा श्रावण नक्षत्र में था (6) भीष्म सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा कर रहे थे ताकि उचित समय में अपना शरीर त्याग कर सकें, यह घटना माघ महीने के प्रथम पक्ष के 8वें दिन हुई (युद्ध के आरम्भ में 50वें दिन) (7) दो माह बाद चैत्र पूर्णमासी के दिन अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ा गया जो माघ महीने की पूर्णिमा को दो वर्ष 10 माह बाद लौटा (8) वास्तविक मेध 2 माह बाद समाप्त हुआ तथा राज्याभिषेक चैत्र की प्रतिपदा को हुआ, (9) युद्ध से दो माह पहले (अक्टूबर में) तीन महत्व-पूर्ण घटनाएँ घटित हुईं (अ) सूर्य और चन्द्रग्रहण दोनों 13 दिन के अन्तर पर पड़े (सामान्यत: चन्द्रग्रहण 14वें, 15वें और 16 दिन होता है), इस समय यह अपवाद था कि यह 13वें दिन पड़ा (ब) एक पुच्छलतारा पुष्य नक्षत्र में आया जो अक्टूबर में दिखाई दिया (स) बृहस्पति और शनि विशाखा में एक वर्ष तक रहे (यह हर 60 वर्ष पर होता है)। यह भी स्मरणीय है कि चन्द्रग्रहण कार्तिक

---

*काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में 1975 में दिया गया द्वितीय व्याख्यान।

की पूर्णमासी के दिन पड़ा था और यदि हम यह मानें कि सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण से पहले पड़ता है तो तब यह आश्विन की अमावस्या को पड़ा होगा। अक्टूबर में सूर्य चित्रा-स्वाती में और राहु स्वाती में था जो ग्रहण की निश्चितता दर्शाता है। इन तीन घटनाओं को संतुष्ट करने वाला वर्ष 3016 ई० पू० है।

शायद आप सभी जानते हैं कि खगोलीय आंकड़ों के आधार पर एस० बी० दीक्षित ने महाभारत का काल 5307 ई० पू०, राव बी० वैद्य ने 3102, आर० बी० वैद्य ने 2787, करन्दीकर ने 1931, जायसवाल ने 1424, पार्जिटर ने 980 ई० पू० निर्धारित किया है। हमारे पास अथवले से असहमत होने का कोई कारण नहीं है क्योंकि महाभारत के पाठ में दिये गये आंकड़े प्रेक्षणों पर आधारित थे न कि कल्पना पर। पुष्य में धूमकेतु का दिखाई देना खगोलीय तथ्य है परन्तु धूमकेतु का आना विपत्ति का पूर्णसूचक बताना अंधविश्वास है जो भारत में यूनानियों के आने पर प्रचारित हुआ यानी यह एक मध्य-पूर्व संकल्पना है।

महाभारत युद्ध की विश्वसनीय गणना शायद डॉ० पी० सी० सेन गुप्ता द्वारा दी गयी है जिनका भारतीय खगोल विज्ञान में योगदान प्रसिद्ध है। इन्होंने अमावस्या से चन्द्रमास की समाप्ति की संकल्पना को व्यवहृत करके महाभारत युद्ध को 2449 ई० पू० निश्चित किया है। इन्होंने दिखलाया है कि पांडव 4 अगस्त 2462 ई० पू० वनवास करने गये और यह निर्वासन सूर्य के दक्षिणायन होने के पूरे सात मास (चान्द्र) बाद 10 जनवरी 2462 ई० पू० तक था। युधिष्ठिर के पवित्रीकरण संस्कार की तिथि 11 मार्च 2449 ई० पू० निकलती है, जो भीष्म की मृत्यु के दो वर्ष दो मास बाद थी। युद्ध वर्ष 2449 ई० पू० से 5 वर्ष पूर्व अर्थात् 2454 ई०पू० में कलियुग प्रारम्भ हो गया था। अलबरूनी के अनुसार युधिष्ठिर का युग पाण्डव काल के नाम से जाना जाता था।

जैन परम्परा (हेमचन्द्र, 1088-1170 ई०) के अनुसार चन्द्रगुप्त के राजा बनने का समय महावीर मृत्यु के 155 वर्ष बाद है लेकिन इस महान सम्राट की मृत्यु अनिश्चित है। अन्य परम्परा के अनुसार मौर्य साम्राज्य विक्रम युग के 255 वर्ष पहले 313 ई० पू० था। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि यदि हम निम्नलिखित तिथियाँ स्वीकार कर लें तो निश्चित तिथि से अधिक दूर नहीं होंगे।

चन्द्रगुप्त मौर्य—	लगभग	320-300 ई० पू०
विन्दुसार		300-275 "
अशोक		275-240 "

महायान साम्राज्य का अन्त लगभग 200 ई० पू० हुआ। वैज्ञानिक उपलब्धियों का सही मूल्यांकन उन ग्रन्थों के उचित तिथिकरण पर निर्भर करता है जिनके आधार पर हम सूचनाएँ प्राप्त करते हैं। निम्नलिखित सारणी से ऐसे सन्देहों की झाँकी मिलती है।

भारतीय ग्रंथों का तिथिकरण

अल्टेकर, मजूमदार और अन्य समालोचक	के० आर० दीक्षित और जी० वी० सत्य नारायण मूर्ति	के० एस० शुक्ल	पी रे, एस० एल० होरा तथा आर० वी० शेशैया
वैदिक सामग्री			
400-1000 ई० पू०	6000-1500 ई० पू०	4000-2000 ई० पू०	2500-2000 ई० पू०
उपनिषद्			
1000-600 ई० पू०	1700-700 ई० पू०	—	—
पंचांग विषयक ग्रन्थ			
ज्योतिष 600 ई० पू०	—	1400 ई० पू०	—
वेदांग 200 ई० पू०	—	—	—
सूर्य प्रज्ञप्ति 400 ई० पू०	—	500 ई० पू०	—
खगोलीय ग्रन्थ			
सूर्य सिद्धान्त 400-500 ई०	—	—	—

अर्थशास्त्र			
100 ई० पू०	—	—	400 ई० पू०
सुश्रुत			
100 ई० पू०	700 ई० पू०	—	600 ई० पू०
चरक			
100 ई०	700 ई० पू०	—	600 ई० पू०

विन्टरनिट्ज द्वारा लिखित पुस्तक 'द हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर' के आधार पर भारतीय वैज्ञानिकों ने निम्न तिथियों को स्वीकार किया है -

ऋग्वेद	2000 ई० पू०-1500 ई० पू०
संहिताएं तथा ब्राह्मण	1500 ई० पू०- 800 ई० पू०
पुराने उपनिषद्	900 ई० पू०- 599 ई० पू०
चरक	100 ई०
चरक संहिता (मूल)	100 ई० लेकिन बाद में परिवर्धित
सुश्रुत संहिता	200-500 ई०
वेदांग ज्योतिष	500 ई० पू०
शुल्ब सूत्र	500 ई० पू० और बाद तक
धर्मसूत्र	600 ई० पू०-200 ई० पू०
मनुस्मृति, महाभारत, रामायण	200 ई० पू०-200 ई०

यहाँ मेरे द्वारा दी गयी तिथियाँ जोसेफ नीढम की टिप्पणियों पर आधारित हैं* । यदि महाभारत का युद्ध 2449 ई० पू० हुआ तथा महाकाव्य की रचना 200 ई० पू०-200 ई० में हुई तो सम्पूर्ण खगोल शास्त्रीय आँकड़े प्रश्नात्मक बन

* नेचर 1951, 168, 64, 1064

जाते हैं। सबसे पुरानी तिथि जिसके विषय में सभी लोग निश्चित हैं वह आर्य-भट प्रथम का जन्म 476 ई० (कलियुग संवत् 3577) है। उनकी प्रसिद्ध कृति 'आर्यभटीय' है जो 23 वर्ष की अवस्था में 499 ई० में लिखी गई। उन दिनों एक युग में 60 वर्ष होते थे। वैदिक काल में युग में चार वर्ष होते थे तथा बाद में पाँच वर्ष का युग अधिक प्रचलित तथा सुविधाजनक हो गया (पंच संवत्सरम् य युगध्यक्षम् प्रजापति) (यजु० 1)।

सिकन्दर की विजय के माध्यम से ग्रीकों के साथ का सम्पर्क भारतीय इतिहास में उतनी ही महत्वपूर्ण घटना है जितनी कि विगत ब्रिटिश शासन काल के समय यूरप के साथ भारत का सम्पर्क। दोनों देशों में अनेक बातों का आदान-प्रदान हुआ लेकिन तिथि तथा स्थान की अनिश्चितता के कारण एवं प्राचीन काल से तब तक चले आ रहे ग्रंथों की शुद्धता के अभाव से, वे अनेक दावे जिन्हें भारत कर सकता था उनमें प्रश्नचिन्ह लगा रहेगा। यूरोपीय विचारकों का यह मानना है कि "भारतीय खगोल विद्या अलेक्जैन्ड्रियाई विज्ञान की सन्तान है"। यह पश्चिम में माना जाता रहा है कि सिकन्दर की विजय तथा बैक्ट्रिया में ग्रीक साम्राज्य के अभ्युदय के बाद भारत में विकसित हर वस्तु तथा वैज्ञानिक और दार्शनिक संकल्पनाओं की अग्रिमता का श्रेय एकमात्र ग्रीकों को है। प्राचीन काल से ज्ञान की उन्नति किसी एक देश की नहीं रही, विज्ञान हमेशा से ही सहयोगपरक था। मेरे पास तो यह मानने के कारण हैं कि ग्रीक सम्पर्क से हमारे पास अनेक अंधविश्वास आये, यथा शकुन तथा पाप, न कि वैज्ञानिक संकल्पनाएँ। यूनानियों ने भारत से खगोलशास्त्र की परम्परा ली तथा सदा-सदा के लिए अंधविश्वास से पूर्ण फलित ज्योतिष तथा शकुन-अपशकुन जैसे मिथ छोड़ गये। मैं तो वराह-मिहिर को अभारतीय (ग्रीक भी हो सकता है) मानता हूँ जो भारतीय परिवेश में ढल गया था। उसने पंचसिद्धान्तिका तथा बृहतसंहिता जैसे ग्रन्थ लिखे। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने व्याख्यानों में इस बात पर बल दिया है। हमारे देश में फलित ज्योतिष तथा अंधविश्वास ग्रीक सम्पर्क से प्राप्त विरासत हैं।

शायद कोलब्रुक का यह कहना ठीक है कि मूल रोमक सिद्धान्त श्रीषेण द्वारा तैयार किया गया, यही मत पृथूदकस्वामी का भी है जिन्होंने ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' पर टीका लिखी है। वराहमिहिर के पंचसिद्धान्तिका लिखने (550 ई०) से पहले लाटदेव ने भी रोमक सिद्धान्त पर भाष्य लिखा। यह बहुत

सम्भव है कि लाटदेव का भाष्य 505 से 550 ई० में लिखा हुआ सामान्य भाष्य है ।

ब्रह्मगुप्त ने भारतीय गणित तथा ज्योतिष ज्ञान को आगे बढ़ाया तथा वह इसके विरुद्ध था कि भारत में ज्योतिष ग्रीकों द्वारा प्रभावित हो । वह एक महान आलोचक था । उसके ग्रंथ 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' के ग्यारहवें अध्याय का नाम तन्त्र परीक्षाध्याय है जिसमें उसने आर्यभट प्रथम, जैन पद्धति तथा विदेशी खगोलविदों के मतों की आलोचना की है । इसे निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है ।

"चूंकि श्रीषेण, विष्णुचन्द्र, प्रद्युम्न, आर्यभट, लाट और सिंह ग्रहण और ऐसे ही विषयों पर विरोधी विचार रखते हैं अतः इससे उनकी अज्ञानता का पता चलता है । मैंने आर्यभट की जो आलोचना की है वह इन सारे शिक्षकों पर भी लागू होती है । मैं श्रीषेण तथा अन्यों पर कुछ और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करूंगा ।"

'श्रीषेण ने सूर्य, चन्द्रमा की माध्य गतियों, चन्द्रमा, चन्द्रमा का भूमि उच्च और उसका पात, मंगल, बुध के शीघ्र और शनि की माध्य. गतियों से सम्बद्ध नियमों को लाट से लिया, अधिवर्षों तथा युग-चक्रणों को वशिष्ठ और विजयनन्दी के पदप्रकरण से लिया । यही, नहीं उसने आर्यभट से भूमि उच्च, अधिचक्र और पात से सम्बन्धित बातें लीं जो ग्रहों की वास्तविक गति को दर्शाती हैं । इस तरह रोमक सिद्धान्त जो रत्नो का भण्डार था श्रीषेण द्वारा पैबन्द वाला चिथड़ा बना दिया गया है ।"

ब्रह्मगुप्त भारतीयों की इस बढ़ रही मनोवृत्ति से नाराज था कि वे अपनी देशी प्रणालियाँ छोड़कर विदेशी प्रणालियों की ओर उन्मुख हो रहे हैं जो या तो कम सही थीं या दोषपूर्ण भी थीं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्यभट प्रथम एक मेधावी व्यक्ति था । उसकी पुस्तक आर्यभटीय चार अध्याओं (गीतिका, गणिका, कालक्रिया और गोल), 10+33+25+50=118 श्लोकों में न केवल खगोलविद्या तथा बीजगणित की नींव रखी अपितु मूलभूत समस्याओं को सुलझाने में भारतीय मस्तिष्क की मौलिकता भी सिद्ध की । ऐसा लगता है कि आर्यभट को भारत में जो अद्वितीय स्थान प्राप्त था उससे ब्रह्मगुप्त थोड़ी ईर्ष्या करता था । ब्रह्मगुप्त भी निश्चित रूप से अद्वितीय नेता था । खण्डखाद्यक में उसकी संक्षिप्तता तथा स्पष्टता देखने

को मिलती है। अलबरूनी ने अपने ग्रंथ इन्डिका में इस पुस्तक के अनेक सन्दर्भ दिये हैं (इसमें इसका पूरक उत्तरखण्ड खाद्यक भी सम्मिलित है)। ब्रह्मगुप्त ने ही अरबों को खगोलशास्त्र सिखाया, 'सिन्धहिन्द' नामक अरबी कृति ब्रह्मसिद्धान्त का अनुवाद है तथा अतर्कन्द खण्डखाद्यक का अनुवाद है।

भारतीयों ने किसी अन्य खोज क्षेत्र की अपेक्षा खगोलिकी के क्षेत्र में अपनी वैज्ञानिक मनोवृत्ति का प्रदर्शन किया। वैज्ञानिक मनोवृत्ति सूचक है प्रकृति की घटना की सही समझ के लिए लगातार प्रयास और प्रति पग पर सरलीकरण की दिशा में प्रयास जिससे अधिक यथार्थता तथा सूक्ष्मता लाई जा सके। वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कल्पना का भी सहारा लिया जाता है। यह विराट जगत और सूक्ष्म जगत दोनों के अध्ययन के लिए मॉडल की कल्पना करता है। यह इस कल्पना से शुरू होता है कि जो निश्चित आयाम के लिए सत्य है वह अतिसूक्ष्म तथा अनिश्चित क्षेत्रों के लिए भी सत्य है। बड़ी-बड़ी संकल्पनाएँ त्रुटिपूर्ण पाई गई हैं जब उन्हें चरम शून्य तथा अनन्त सीमाओं में प्रयुक्त किया जाता है। किसी सिद्धान्त को सभी प्रेक्षणों में एक सा होना चाहिए (थोड़े से विचलन का भी पता चलना चाहिए)। सभ्यता के आरम्भ में हम अपनी भाषा को असमृद्ध मानते थे और इसलिए सभी युगों में वैज्ञानिकों ने प्रत्याहारों की सम्भाव्यता को अलग भाषा (दार्शनिकों और कवियों की भाषा नहीं) में व्यक्त करने का प्रयास किया तथा इस प्रयास में उन्होंने गणित की भाषा ली जिसमें ज्यामितीय चित्र भी थे। यह अपने आप में एक महान खोज थी। पाणिनि का व्याकरअ अष्टाध्यायी, उणादि कोश की भाषा, पिंगल छन्दशास्त्र की भाषा इस दिशा में प्रारम्भिक प्रयास थे। अति सामान्यीकृत मात्राओं का उपयोग एक युगान्तकारी ऐतिहासिक महत्व की घटना है। वैदिक साहित्य से मेरा परिचय होने के कारण मुझे लगता है कि तथाकथित देवता या शक्तियाँ हमारे विचारों को सामान्यीकृत करने का प्रारम्भिक प्रयास है। विभिन्न सन्दर्भों में इसके विभिन्न उपयोग किये गये हैं।

संक्षेपणों तथा संकेतनों से मनुष्य न केवल भाषा के शब्दाडम्बर को संक्षिप्त तथा सुविधाजनक अभिव्यक्ति बनाया अपितु इससे परिमाणों तथा गम्भीर अर्थों का वहन हो सका। साथ ही सांकेतिक भाषा से यह लाभ था कि संकल्पनाओं के तर्क को पदश: समझा जा सकता था। तर्कशास्त्र की एक प्रमुख सफलता यूक्लिड की ज्यामिति में और रासायनिक समीकरण में है जिनसे संश्लेषित और विश्लेषित

चरण तक पहुँचा जाता है। सबसे पहला संकेत ओउम है तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण संकेत शून्य है।

सबसे पहले के संकेत संख्याएँ भी थीं तथा इस सन्दर्भ में संख्याओं का स्थानीय मान भी सार्थक। एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणाम व्याख्यातः (III. 13) योग सूत्र की टीका करते हुए व्यास ने लक्षण-परिणाम की व्याख्या की और इस सन्दर्भ में उन्होंने बताया कि उद्देश्य (धर्मी) वही बना रह सकता है लेकिन इसके साधन (धर्म) स्तर के बदलने (अवस्था-भेद) से बदल सकते हैं। उन्होंने दो उदाहरण दिये : (1) अंक एक ही हो सकता है लेकिन किसी संख्या में उसका स्थान इसके वास्तविक मान सैकड़ा, दहाई या इकाई को प्रदर्शित करेगा। यथैकरेखाशतस्थाने शतं दशस्थाने दशैक चैक स्थाने। (2) एक ही स्त्री माँ, किसी की पुत्री तथा किसी की बहन हो सकती है। निश्चित रूप से व्यास स्थानीय मानों के खोजकर्ता नहीं हैं। यह हमें बहुत पहले से पता था परन्तु इसके पहले का कोई लिखित अभिलेख या प्रमाण नहीं मिलता। यदि हम यह मान लें कि पतंजलि द्वारा विज्ञानवाद की आलोचना बौद्धों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त की आलोचना है तो योगसूत्र के लेखक पतंजलि 300-400 ई० के लेखक रहे होंगे (जे० एच० वुड्स)। कुछ अन्य विज्ञानी (महाभाष्य और योगसूत्र के) दो लेखकों को एक ही मानते हैं तथा पतंजलि की तिथि 200 ई० पू० बताते हैं। तब भारतीयों को संख्याओं के स्थानीय मान (उनके द्वारा खोजे गये) का ज्ञान ईसा से पहले का माना जाता है। यह भारत में उन दिनों प्रचलित था जब गणित के वे ग्रन्थ दिये गये थे जो भक्साली पाण्डुलिपि के अग्रगामी थे (सम्भवतः 200 या 400 ई०)।

आर्यभट प्रथम ने अपने ग्रन्थ आर्यभटीय में बड़ी संख्याओं को संक्षेप में व्यक्त करने के लिए व्यंजनों को अंकीय मान देकर एक सांकेतिक भाषा निकाली—(क 1, ख 2 ... च 6, त 16, प 21, म 25, य 30, र 40, ल 50, ह 100) और स्वरों को घात के रूप में (ए 1, इ 100, उ 100^2, ऋ 100^3, औ-100^8) माना है। लेकिन यह विधि केवल श्लोकों के निर्माण में ही उपयोगी थी।
उदाहरण के लिए—

ङि-शि-बु-ण्लृ-खृ-षृ $=(5\times100)+(70\times100)+(23\times10000)+$
$(15\times100000000)+(2\times1,000,000)+(80\times1,000,000)$
$=1,582,237,500$

आर्यभट ने एक द्विघात समीकरण का हल निकालकर बीजगणित की नींव रखी। भास्कर द्वितीय ने अज्ञात संख्याओं (अव्यक्त) की संकल्पना दी जिसे उसने यावत्-तावत्, कालक, नीलक, पीतक, लोहितक जैसे शब्दों द्वारा प्रदर्शित किया (हमारे x, y, z की तरह) (भास्कर का बीजगणित, 1150 ई०)। यह सोच पाना कठिन है कि बिना सांकेतिक भाषा का उपयोग किये आर्यभट प्रथम ने द्विघात समीकरण का हल कैसे निकाल लिया।

खगोल शास्त्र के अध्ययन से अनेक मूलभूत समस्याएँ उत्पन्न हुईं। सिद्धांत के लेखक ने बताया कि पृथ्वी एक गोला है जो अन्तरिक्ष में बिना किसी सहारे के टिकी है। यह इस विचार के विरुद्ध है कि वह किसी ऐसे पशु के सहारे टिकी है जो दूसरे पशु के सहारे टिका है। भास्कर (1150 ई०) ने इस विचार को निरस्त कर दिया कि पृथ्वी नीचे की ओर गिर रही है। यदि यह गिरती है तो तीर से भारी होने से यह उस तीर से भी तीव्रगति से गिरेगी जो ऊपर छोड़ा गया है और तब यह तीर पृथ्वी पर कभी भी नहीं पहुँच पायेगा।

ज्योतिष में प्रयुक्त होने वाले भौतिक सिद्धान्तों में से मैं एक रोचक उदाहरण देना चाहूँगा। आर्यभट और ब्रह्मगुप्त के समय में बेबीलोन और भारतीय सम्प्रदाय दोनों फल-फूल रहे थे और कुछ मामलों में परस्पर सहयोग था। इस युग में खगोल विज्ञान न तो पूर्णतः भारतीय, न ग्रीक और न ही बेबीलोनियन ही था। उस समय एक ही संकल्पना प्रमुख थी कि पृथ्वी के चारों ओर सभी ग्रह समान रेखीय वेग से घूम रहे हैं। पृथ्वी का व्यास 1600 योजन, चन्द्रमा की दूरी 51,570 योजन (पृथ्वी की त्रिज्या का 64.5 गुना), अन्य ग्रहों की दूरी समान वेगों के आधार पर निकाली गयी (वास्तव में दूरियाँ परिक्रमण के कक्षीय अवधियों के अनुक्रमानुपाती होती हैं लेकिन बुध और शुक्र के लिए अधिचक्र पर निर्भर करती हैं)। ग्रहों के केन्द्र का समीकरण अधिचक्र द्वारा बनाया जाता है तथा इस व्यवस्था में भारतीयों ने एक नई खोज यह जोड़ दी कि अधिचक्र की परिधि चर होती है, यह भूमि उच्च पर अधिकतम तथा भूमि नीच पर न्यूनतम होती है और कम से कम इनसे 90° पर जब समीकरण अपनी चरम स्थिति पर पहुँचता है। कुछ खगोलविदों द्वारा की गयी अण्डाकार अधिचक्र की खोज का उपयोग सभी ग्रहों के लिए किया गया जबकि अन्य (जैसे ब्रह्मगुप्त तथा भास्कर प्रथम) ने इसे मंगल तथा शुक्र के लिए किया। कुछ ऐसे भी खगोलविद भी थे जिन्होंने इस सिद्धांत को नहीं माना। यह विश्वास करना कठिन है कि इस तरह

की पेचीदी बातें क्यों सम्मिलित ली गयीं। आर्यभट प्रथम ने हट कर यह कहा—तारों का गोला स्थिर है और पृथ्वी चक्रण कर रही है, इस तरह वह तारों तथा ग्रहों के उगने तथा डूबने के लिए उत्तरदायी है। ब्रह्मगुप्त इस विचार को अस्वीकार करता है और कहता है—यदि पृथ्वी एक मिनट में एक प्राण घूमती है तो कब और कौन सा मार्ग यह अपनायेगी ? यदि यह घूमती है तो असम्बद्ध वस्तुएँ क्यों नहीं गिर जातीं ? इस पर टीकाकार पृथूदक स्वामी कहते हैं, "तो भी आर्यभट के विचार संतोषजनक हैं क्योंकि ग्रहों को दो गतियाँ एकसाथ नहीं हो सकतीं और इस आपत्ति का निरसन हो जाता है कि ऊँची वस्तुएँ गिरती क्यों नहीं, हर तरह से पृथ्वी का निचला भाग भी ऊपरी है, इसलिए पृथ्वी पर जहाँ कहीं भी अवलोकनकर्ता खड़ा होगा वही सबसे ऊपरी विन्दु होगा।"

पश्चिमी विद्वानों का प्रयास भारत की हर उपलब्धि को बेबीलोनिया या ग्रीस से जोड़ने का रहा है। आपको ज्ञात है कि प्लेटो और अरस्तू जैसे विचारक विश्वास करते थे कि आकाश प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम चक्कर लगाता है जबकि पोण्टस को हेराक्लीडिस ने स्पष्टत: यह बताया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमने के साथ-साथ चौबीस घंटों में पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है। हेराक्लीडिस ने अपने विचार बिल्कुल ठीक रखे परन्तु यह कहना कठिन है कि उसके विचार सर्वमान्य हो पाये या नहीं क्योंकि ये विचार प्लेटो और अरस्तू जैसे तत्कालीन ज्ञाताओं से मेल नहीं खाते थे। इससे यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि उसके विचार भारत आ पाये होंगे। यह मान लिया गया है कि हेराक्लीडिस के विचार बेबीलोनवासी सेल्यूकस द्वारा अपना लिये गये। यह केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि पृथ्वी के दैनिक परिभ्रमण का विचार बेबीलोन से होकर भारत पहुँचा। आर्यभट ने इसी विचारधारा पर अपनी संकल्पनाएँ कीं और व्यक्तिगत रूप से मेरा यह सोचना है कि भारतीय खगोलविदों के लिए इस घटना की खोज का श्रेय उसे ही दिया जाना चाहिए।

हेराक्लीडिस और अरिस्टार्कस ने कहा—प्रेक्षित तथ्यों की व्याख्या इस प्रकार हो सकती है कि पृथ्वी भूमध्यरेखा के ध्रुवों के चारों ओर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है, हर दिन कम से कम एक चक्र तो हो ही लेता है।

सेल्यूकस ज्वारों का प्रेक्षणकर्ता था। उनकी उत्पत्ति के लिए उसके पास अपने सिद्धांत थे। उसके अनुसार "चन्द्रमा पृथ्वी की उल्टी दिशा में घूमता है लेकिन इन दोनों पिण्डों के बीच आगे की ओर खींची जाने वाली हवा समुद्र पर

पड़ती है तथा उसी अनुपात में समुद्र विचलित होता है।" सेल्यूकस यह भी मानता था कि और अधिक दूर नहीं तो चन्द्रमा पर वायुमण्डल है।

आर्यभट के "गोलापाद" से विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित तमाम रोचक जानकारी मिलती है। पृथ्वी, चन्द्रमा, ग्रहों और तारों का आधा हिस्सा अंधकारमय क्यों है, वे स्वयं अपनी ही छाया में हैं, दूसरा आधा भाग चमकीला है, क्योंकि सूर्य के सामने है (यह तारों के विषय में सच नहीं है (5) पृथ्वी जल तथा वायु के वातावरण से घिरी है (6, 7) ब्रह्मा के दिवस में पृथ्वी का गोला एक योजन बढ़ जाता है तथा ब्रह्मा की रात्रि में इतना ही घट जाता है। जिस प्रकार नाव पर बैठा एक व्यक्ति नदी के किनारे स्थिर पेड़ों आदि को विपरीत दिशा में जाते देखता है उसी प्रकार तारे भी लंका से पश्चिम की ओर जाते दिखाई देते हैं। हवा के प्रवाह के कारण नक्षत्रों तथा ग्रह उदय होते तथा पीछे हट कर पश्चिम में डूबते हैं (10) चार शहर 90° के कोण पर इस प्रकार स्थित हैं कि जब लंका में सूर्योदय होगा तो सिद्धपुर में सूर्यास्त, यबकोटी में मध्याह्न तो रामकापुरी में मध्यरात्रि होगी। पृथ्वी के परिभ्रमण का कारण हवा या हवा की धारा है जिसकी प्रवणता जैसा कि उसने कहा है—पृथ्वी की सतह से 114 मील की दूरी तक होती है (15 योजन, एक योजन=7.6 मील) और पृथ्वी का व्यास 1050 योजन है (7980 मील)।

प्राच्य देशों में गणित, बीजगणित तथा ज्यामिति के क्षेत्र में काफी उन्नति तो हुई परन्तु यान्त्रिकी के क्षेत्र में कम हुई क्योंकि भौतिक सिद्धांतों को गणितीय रूप नहीं दिया जा सका। खगोलविज्ञान में दूरी और समय का महत्व था, द्रव्यमान का प्रश्न सामने नहीं आया था। समय और दूरी की माप के लिए कुछ इकाइयाँ आवश्यक हैं। वैदिक समय में यजमान की ऊँचाई, जो हाथ को ऊपर फैलाने पर आती थी उसे पुरुष या एक इकाई कहते। फुट, घन, हाथ, अंगुलियों की चौड़ाई, जौ या तिल की लम्बाई ये सब व्यक्तिगत थीं और सम्भवतः उस पुराने समय में उन्हें अन्तर्राष्ट्रीयकृत नहीं किया जा सका। हमारे अपने ग्रह के सन्दर्भ में समय की माप कुछ निश्चित है। ब्रह्मगुप्त ने कुछ सुविधाजनक माप सारणी बनाई, 6 प्राण=1 पल (24 सेकेन्ड), 60 पल=1 घटिका (24 मिनट), 0 घटिका=1 दिवस या दिन 30 दिन=1 मास, 12 मास=1 वर्ष। इसी तरह से हमारे पास कोणीय माप भी है। चाप के आधे हिस्से विकल (या विलिप्त या विलिप्तिका) 60 विकल=1 कला (चाप का मिनट), 60 कला=1

अंश, 30 अंश=1 राशि, 12 राशि=एक भगण (360° का पूर्णवृत)। मैं माप विज्ञान के इतिहास के बारे में बातें नहीं कर रहा हूँ। सूक्ष्म तथा दीर्घ पैमाने पर भी मापों का काफी महत्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक विज्ञान में आज भी नयी संकल्पनाओं के लिए तथा नये विषयों के लिए नयी इकाइयाँ ली गयी हैं। कई अन्वेषणकर्ताओं के नाम इकाइयों से जुड़कर अमर हो गये। जैसे—वोल्ट, एम्पियर, फैराडे, ओम, डेबी, क्यूरी, एंगस्ट्राम इत्यादि युगनिर्माता वैज्ञानिकों के नाम न होकर इकाइयों के नाम हैं जो मात्रात्मक रूप में उपयोग में लायी जाती हैं। द्रव्यमान, लम्बाई और समय अब भी ऐसी मूलभूत विमायें हैं जिसमें अपनी अनेक इकाइयों को व्यक्त किया जा सकता है। फिर भी हम इन इकाइयों से सन्तुष्ट नहीं हैं और यह हमेशा से अनुभव किया जाता रहा है कि वैज्ञानिक संकल्पना को स्वीकार किये जाने के लिए वह न केवल गुणात्मक रूप से तुष्ट करने वाली हो अपितु मात्रात्मक रूप से भी हो।

यह विचित्र बात है कि भूतकाल में हमारे अनेक विचार वास्तविक परिभाषाओं के अभाव से विकसित नहीं हो पाये। बल, संवेग, ऊर्जा, शक्ति, तीव्रता और घनत्व भी गणितीय ढंग से विवेचित नहीं किये गये थे। वैशेषिक प्रणाली में 24 गुणों को गिनाया गया है जिनमें गुरुत्व, तरलता, स्निग्धता, स्थैतिक क्षमता (वेग लचीलापन और प्रभाव) सम्मिलित हैं। क्रियाओं के पाँच प्रकार भी बताये गये हैं—ऊपर फेंकना (उत्क्षेपण), नीचे फेंकना (अवक्षेपण), दबाना (कुंचन), प्रसार (प्रसरण) और गति (गमन)। उत्क्षेपण और अवक्षेंपण दोनों को एक में (एक को धनात्मक और दूसरे को ऋणात्मक) व्यक्त किया जा सकता है और इसी तरह से प्रसरण और अपकुंचन भी एक हो सकते हैं लेकिन सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि न तो इन गुणों को और न ही क्रियाओं को मात्रात्मक तथा यथार्थ रूप से व्यवहृत किया गया।

न्यूटन की यांत्रिकी दैवीय शक्ति जैसी लगती है बल, संवेग और ऊर्जा को द्रव्यमान के रूप में व्यक्त किया जा सकता। द्रव्यमान और वेग का गुणनफल संवेग कहलाता है। त्वरण और द्रव्यमान का गुणनफल बल कहलाता हैं तथा ऊर्जा, द्रव्यमान और वेग के वर्ग के गुणनफल के बराबर होती हैं। न्यूटन का योगदान केवल यह कथन—"पृथ्वी गेंद या सेव को अपनी ओर आकर्षित करती है" नहीं है अपितु इसको बीजगणितीय रूप देने में, जिससे इसे मात्रात्मक रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है, न्यूटन की प्रतिभा है। उसका गुरुत्व g त्वरण

है और g का मान अलग-अलग स्थान पर अलग होता है। डाइन और अर्ग की परिभाषा (बल और ऊर्जा की इकाई) और इसी प्रकार की अन्य इकाइयाँ आधुनिक विकास में महत्वपूर्ण हैं।

अब तक मैं गणितीय और खगोल विज्ञान की शब्दावली के बारे में बातें करता रहा। विज्ञान में केवल दो मुख्य कसौटियाँ हैं : सिद्धांत को प्रेक्षणों के अनुसार होना चाहिए और इसे किसी समस्या की मात्रात्मक ढंग से हल करना चाहिए। आरम्भ में रसायन विज्ञान भी अत्यन्त कल्पनाशील तथा अयथार्थात्मक था।

हमारे पास सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, पिलुपकवाद, पिथरपकवाद थे। ये वाद न तो दार्शनिकों और न ही आम लोगों को संतुष्ट कर सके। पाँच तत्वों की संकल्पना को भी न तो विश्लेषणात्मक, न ही संश्लेषात्मक मात्रात्मक रूप से प्रयुक्त किया जा सका। जब इन संकल्पनाओं से छुटकारा मिल गया तो रसायन विज्ञान और अधिक यथार्थ बन गया।

निःसन्देह कणाद ने परमाणुवाद की तथा कार्य-कारण सम्बन्ध की नींव रखी लेकिन बॉयल और डाल्टन की संकल्पनाएँ तथा प्रसस्तपद कणाद संकल्पनाओं का अन्तर काफी महत्वपूर्ण था। इस तरह से जहाँ वैशेषिकवाद केवल दार्शनिकों को सन्तुष्ट कर सकता तथा वहीं इसके सिद्धान्तों की प्रयोगात्मक परीक्षा नहीं हो सकती थी। वैशेषिक के पीछे भी एक ज्ञानवाद है, आज भी यह प्रासंगिक है लेकिन इससे रसायनिक यौगिकों के विश्लेषण में गुणात्मक तथा मात्रात्मक रूप से कोई सहायता नहीं मिलती। यह अध्यात्म के स्तर पर पर्याप्त अर्थ रखता था।

शारीरिक, जैवरसायनिकी और चिकित्सा विज्ञान के अन्वेषित क्षेत्रों में भी पुरानी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि अवास्तविक थी अर्थात् इसके आधार पर प्रायोगिक और मात्रात्मक विज्ञान का विकास नहीं हो सकता था। इन क्षेत्रों के रहस्य अब भी अनन्वेषित हैं। सजीव प्रक्रम इतने अस्पष्ट हैं कि हम जितना ही जानने का प्रयास करते हैं वे उतने ही उलझे सिद्ध होते हैं। लेकिन चरक और हिपोक्रेट्स ने उन्हें जिस प्रकार से समझा वह आज भी सच है। विकास की हर अवस्था में हुई प्रगति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित किया जाना चाहिए। विज्ञान सदैव समय के प्राचलों के अन्तर्गत विकास करता है और जो कुछ आज अर्जित

किया गया है उसे 500 ई०पू०में नहीं प्राप्त किया जा सकता था। विज्ञान पदश: विकास करता है।

कोई भी विज्ञान अकेले ही विकास नहीं कर सकता। आज जो कुछ भी हमारे पास जीव विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, गणित या औषधि में है वह चतुर्दिक विकास का शुद्ध परिणाम है। यही बात हमारे विगत इतिहास के लिए सच भी है। पुरानी तकनीक, विज्ञान और दर्शन किसी एक शास्त्र के योगदान नहीं हैं, वे सब सभी क्षेत्रों के प्रयासों के सम्मिलित प्रतिफल हैं (एक राष्ट्र, या मानव समुदाय से नहीं)।

यथार्थता तथा मात्रात्मक शुद्धता के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को कतिपय दृष्टान्तों में देखा जा सकता है। वृत्त की परिधि तथा इसके व्यास के अनुपात का मान (π का मान 3.1416), करणी के मान जैसे

$$\sqrt{2}=1+\frac{1}{3}+\frac{1}{3.4}-\frac{1}{3.4.34}=1.4142156$$

जबकि आधुनिक मान 1.414213 (बौधायन) है,

$$\sqrt{3}=1+\frac{2}{3}+\frac{1}{3.5}-\frac{1}{3.5.5^2}$$

और आगे भी, खगोलज्ञ स्त्र के आँकड़े भी दिये गये, कोज्या-व्युकोज्या और त्रिकोणमितीय सारणियाँ, खगोलशास्त्र में प्रथम, द्वितीय अन्य अन्तरों (इस प्रकार का अवकल कलन) पर विचार, ग्रहणों के बारे में भविष्यवाणी करते समय यथार्थता।

सूक्ष्मतम कणों की दर्शनीयता के विषय में न्याय में हम पाते हैं कि एक कमरे में छोटे से छेद से आने वाले सूर्य प्रकाश में तैरते हुए धूल के कणों को त्रसरेणु कहा गया है। नंगी आँखों से इससे छोटा कुछ भी नहीं दिखायी दे सकता। परमाणु अदृश्य होते हैं (इन्हें विशेष उपाय से ही देख सकते हैं)। हमारे परासूक्ष्मदर्शी का सिद्धान्त भी उच्चशक्ति के सूक्ष्मदर्शी के नीचे उड़ते धूल कणों के दृष्टिगत होने पर ही आधारित है। केवल सोने के तौलने में उच्च कोटि की तौल यथार्थता, सोने की पत्तरें तथा धागे बनाने में उच्च कोटि की निपुणता, हीरा तराशने में उच्च कोटि की कटाई के दृष्टान्त प्राप्त होते हैं।

रासायनिक उत्पादों की उच्च कोटि की शुद्धता, उनकी शारीरिक क्रियाशीलता (या अन्य उपयोगों) पर निर्भर करती थी। अणुओं के सैद्धान्तिक ज्ञान के अभाव में इससे अधिक कुछ हो भी नहीं सकता था। निश्चित रूप से यौगिक का बाहरी रूप भी शुद्धता के विस्तार को दर्शाता था।

किसी नमूने में सोने की मात्रा का मात्रात्मक अनुमान पत्थर के टुकड़े (निकष) पर सोने से खींची गयी लकीर को देखकर लगाया जा सकता था। इस बात पर जोर देना अनावश्यक है कि मात्रात्मक निर्धारणों के बिना सोने और चाँदी का व्यापार व्यवहारिक नहीं बन सकता था।

5. प्राचीन भारत में औजारों और उपकरणों का युग*

आधुनिक उद्‌विकासविदों के अनुसार औजारों का उपयोग करने के कारण मनुष्य अपने जनक पूर्वजों से भिन्नता रखता है। औजार सामान्य पत्थर, छड़ी, तीर, चाकू, ब्लेड या काँटा भी हो सकता है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया वैसे-वैसे यांत्रिक साधनों में अत्यधिक वृद्धि हुई, धीरे-धीरे भोंथरे यांत्रिक साधन अधिक परिष्कृत होते गये, वे सभी दिशाओं में लम्बोतरे होते गये और अन्ततः हम तकनीकी और भारी मशीनरी के युग में प्रवेश कर गये। जैसा कि मैं अपने पहले के व्याख्यान में कह चुका हूँ कोई विज्ञान अकेले विकास नहीं कर सकता. उसी तरह से मैं यह कहूँगा कि बिना विज्ञान के कोई तकनीक विकसित नहीं हो सकती। भारत बींसवी सदी में तकनीकी युग में प्रवेश कर रहा है जिसका उद्‌गम यूरोप में है। प्राचीन देशों में तकनीकीविद् थे तथा उनमें तकनीकी गुण भी था परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पास तकनीकी थी। यह केवल पश्चिम में विकसित विज्ञान के दो-तीन सौ वर्ष बाद की घटना है कि आधुनिक तकनीकी विकसित हो पायी है और हम कह सकते हैं कि हमारे पास जितना अधिक विज्ञान है उतनी तकनीकी भी। इस सदी के आरम्भ तक विज्ञान तकनीकी के आगे था परन्तु अब तकनीकी विज्ञान से आगे है। इसलिए आज तकनीकी के सर्वश्रेठ केन्द्र तथा संस्थान विज्ञान के भी पोषक हैं। मैं जीव विज्ञान के बारे में बातें नहीं कर रहा हूँ। जैविक तकनीकी (जैव प्रौद्योगिकी) कुछ निचले संस्तर पर है और कौन जानता है कि ऐसा भी दिन आये जब यह जीव विज्ञान पर शासन जमा ले।

---

*बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग में दिया गया तृतीय व्याख्यान।

यह तो आवश्यकताओं की शृंखला है जिससे तकनीकी आविष्कार होते हैं। प्रारम्भिक आविष्कारक एक सामान्य मानव था जिसको इतिहास में कोई स्थान नहीं दिया गया। नयी खोजें भी प्रारम्भिक खोजों में जुड़ती गयीं और ये चरण भी इतिहास में अज्ञात हैं। छोटे आविष्कारों की प्राथमिकता के सम्बन्ध में अधिक प्रश्न नहीं उठे हैं। उदाहरणार्थ, यह कहना कठिन है कि सर्वप्रथम किसने तीर या धनुष की खोज की। पिछले चार सालों से मैं दक्षिणी अफ्रीका और पूर्वी अफ्रीकी देशों में रहा, वहाँ के स्थानीय संग्रहालय देखे जिसमें प्रागैतिहासिक वस्तुएँ भी रखी गयी थीं। वे प्राचीन भारतीय वस्तुओं से बहुत भिन्न नहीं थीं। प्रारम्भिक विकास के समय सभी देशों की परिस्थितियाँ लगभग एक-जैसी थीं। जिन संस्कृतियों में आग का प्रचलन था वहाँ के मिट्टी के बर्तन और रसोई के बर्तन लगभग एक-जैसे थे। आग संस्कृति का एक केन्द्रीय आधार बन गयी है। हम ऐसी दो संस्कृतियों को जो आग का उपयोग करती हैं तथा आग का उपयोग नहीं करतीं, आसानी से पहचान सकते हैं।

भारतीय जीवन में आग की खोज महान घटना थी। वैदिक काल से आगे (ब्राह्मण, आरण्यक और श्रौत सूत्र के समय) आग की महत्वपूर्ण भूमिका थी। वैदिक श्लोकों में अग्निमंथन का सन्दर्भ मिलता है। गृहस्थ के लाभ के लिए शायद किसी व्यक्ति ने आग उत्पन्न करने का व्यापार अपने हाथ में लिया हो। जो भी हो, नवीन आग का उत्पादन इतना आसान नहीं रहा होगा।

अन्य देशों में आग की खोज कुछ इसी प्रकार के स्वतन्त्र साधनों द्वारा हुई होगी परन्तु हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं कि यह भारत की खोज है और वे इसे विश्व के अन्य भागों में भी ले गये। इससे एक महान घटना जुड़ी है कि कुछ समारोह पवित्र आग के चारों ओर ही होते थे। ऐसा विशेषतः भारत में ही होता था। पारसी (जरथुष्ट्र के अनुयायी) भी अग्निपूजक माने जाते हैं लेकिन वे इसका दावा नहीं कर सकते कि उन्होंने अग्नि के चारों ओर ही अपनी संस्कृति या विज्ञान का विकास किया। वैदिक मन्त्रों में विराट यज्ञ के सन्दर्भ में वसन्त ऋतु को अज्य (मक्खन), ग्रीष्म को ईंधन के रूप में तथा शरद् को हवि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वैदिक श्लोक द्रव्य-होम की तरफ ही संकेत हैं (यजु : III 1-3) लेकिन विराट यज्ञ के सादृश्य में ही मनुष्य ने अपने द्वारा उत्पन्न अग्नि को केन्द्रीय ईंधन, अपने द्वारा आविष्कृत मक्खन को अज्य तथा

धान, जौ या तिल को हवि रूप में प्रयुक्त करके एक छोटा सा नाटक रचा। गाधिपुत्र विश्वामित्र अग्नि सूक्त के ऋषि हैं (ऋ III. 29) तथा इस सूक्त के श्लोकों द्वारा प्रेरित होकर यह कहा कि उन्होंने आग उत्पन्न करने के लिए सबसे पहले धर्षण यन्त्र बनाया (श्लोक 1-6)। शतपथ ब्राह्मण में (III 6-3-10) इसकी अच्छी जानकारी मिलती है--

"वे ग्रवण, द्रोण-कलश, बायव्य, इध्म (ईंधन) के बीस टुकड़े कर्समार्य लकड़ी की परिधि, अश्ववला घास का प्रस्तर, तथा इक्षु के दो विधृतियाँ तथा बर्हि को साथ-साथ बाँधा। पुनः दो रसना (रस्सियाँ) वपस्रपण्य को घुमाने के लिए सिकचे, मथने के लिए दो अरणी, अधिमन्थन-सकल और दो वृषण इन सबों को लेकर (अग्निध्र) के पास जाते थे और यज्ञ आगे चलता है।"

अधिमंथन सकल लकड़ी की चैली की तरह होता है तथा जो नीचे को मथने वाली लकड़ी के लिए (अधरणि) होता है जिसने ऊपरी मथने वाली लकड़ियों को छेदकर फाँस दिया जाता है। प्रथम योजनाबद्ध वेदी तुर कवसेय द्वारा बनाई गयी, इसका सन्दर्भ शतपथ ब्राह्मण में (IX 5-2-15) मिलता है—"और एक बार शाण्डिल्य ने कहा था—तुर कवसेय द्वारा बनाई गयी, तुर कवसेय ने करोटी में देवताओं के लिए हवन वेदी बनाई।"

आग से जुड़े संस्कारों ने यान्त्रिक साधनों को प्रोत्साहन दिया। इनमें से बहुत सी युक्तियाँ यजुर्वेद में दी हैं (XVIII 19-21)। इस अध्याय के 1-44 श्लोकों का ऋषि देवः है, कोई विशेष नाम नहीं दिया गया है। अग्नि कृत्यों के साथ सामान्य मानव वैदिक श्लोकों से प्रेरित होकर आवश्यक यान्त्रिक उपायों की खोज करने लगा। वह मनुष्य बहुत ही साधारण रहा होगा तथा इन सामान्य खोजों का श्रेय किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया जा सका। कण्व जाति के लोगों ने द्रसद और खल्व के उपयोग में रुचि दिखलाई (अथर्व II. 31-1)। अथर्ववेद के नवें अध्याय में छठे मंत्र में 6 छोटे खण्ड हैं जिसके ऋषि ब्रह्मा और ऋषि अंगिरस दोनों से सम्बन्धित हैं। यदि हम ब्रह्मा को ऐतिहासिक व्यक्ति मानें जिन्होंने इस मन्त्र की अन्तर्दृष्टि प्रदान की तो उन्हें खरल, ओसाने की टोकरी, कन्ना, दबाने वाला गियर, चम्मच, करछुल, चिमटी, हिलाने वाली छड़, लकड़ी की नली, मिट्टी के खाना पकाने के बर्तन, सोम

पात्र, काले हिरन के चमड़े जैसी अनेक यान्त्रिक युक्तियों का जन्मदाता भी मान सकते हैं (IX. 6.15-17)। निश्चित रूप से अथर्वन इन यान्त्रिक युक्तियों के प्रचलनकर्त्ता भी हैं (X 9-26)।

वैदिक युग की एक महत्वपूर्ण खोज कुलाल-चक्र या कुम्हार का चाक थी जिसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण (XI. 8-1-1) में रथ चक्र के साथ हुआ है। कुम्हार (कुलाल) के व्यवसाय का वर्णन यजुर्वेद में भी है। कुम्हार के चाक से बनाने वाले मिट्टी के बर्तनों में कटोरा (अधवनीय), पीने के बर्तन (असृपात्र, ऋतु-पात्र) जो उभयतोमुख होते थे, कनिष्ठ (छोटा) और भूयिष्ठ (बड़ा) दोनों, मिट्टी का कलश, (भांड़ और कुल्हड़), कुम्भ और कुम्भी (बड़े और छोटे घड़े), कप्य (तश्तरी), पिन्वन (दूध के बर्तन), सत (कटोरे) और स्थाली (कहाड़ी) धर्म कार्य करने हेतु हविस्पात्र और हविवर्धन। इनमें से कुछ बर्तन लकड़ी के भी हो सकते थे। बाद में मिट्टी के हो गये और इस तरह से कुम्हार का चाक महत्वपूर्ण आविष्कार है।

सोम समारोह बड़े ही उत्साहपूर्वक और नाटकीय ढंग से मनाया जाता था। सोम को हमेशा 'राजा' या शक्तिमान राजा कहा जाता था। शतपथ बाह्मण में (III 6-1) सदस के निर्माण के लिए अभ्रि (फावड़ा), शंकु (लकड़ी का खूंटा), डोरे समेत लम्बी सुई (लस्पुजनी), हिलाने के लिए छोटी लकड़ी की तलवार (स्पय), लकड़ी की करछुल (स्रुक), साम्य (लकड़ी की पिन, खूंटा) रेखा खींचने हेतु, उपायमानी (आग जलाने हेतु कंकडो और बालू का सहारा) के उपयोग का विस्तृत विवरण मिलता है।

हविर्धन शब्द का उपयोग कई अर्थों में किया गया (i) आचमन पात्र (iii) वह वाहन जिसमें रखकर दबाने के लिए ले जाया जाता है (iii) सोम वाहन के लिए छप्पर (शतप ब्रा III 5-32) हविर्धन में दोनों ओर द्वार होते हैं। एक चटाई (छड़ि) फैली रहती है और यदि चटाई न हो तो रस्सी (बटी हुई घास) उपयोग की जाती है, इसमें लस्पुजनी तथा स्पंद्य से सिलने, गाँठ देने (ग्रंथि) के बारे में भी बताया गया है (शतप: ब्रा. III-5-25) सोम को दबाने के लिए लाल रंग के चमड़े (जीभ की तरह लाल) का वर्णन भी मिलता है। दबाने का पत्थर खुरदरा और दांतेदार होता है (शतप. ब्रा. III. 423-24)।

सोम को दुहरे या चार बार मोड़े गये कपड़े से मापा या तोला जाता है। यह माप मात्रा कहलाती है (III. 3-2-9)। तौलने या नापने की प्रक्रिया में उंगलियाँ उठाई या झुकाई जाती हैं (उदचम् न्यचम् मिमिते)। मै यहाँ सोम बेचने और खरीदने के सुन्दर विस्तृत वर्णन का उल्लेख नहीं करूँगा (III.33)। सोम खरीदने के बाद गाड़ी पर लादने और उसे मृगचर्म (कृष्णाजिन) से ढक देते हैं। लादने से पहले इसे कपड़े से लपेटते हैं। इस गाड़ी में तिकोना जुआँ (प्र-उ-ग) लगा रहता है, गाड़ीवान खड़ा होकर गाड़ी चलाता है (दो बैलों या अनड्वन द्वारा खींची) तथा गाड़ीवान बैलों को चलाने के लिए हाथ में पलाश की छड़ी लिये रहता है। गाड़ी के पिछले भाग में लकड़ी का पटरा होता है जिसे अपालम्ब कहते हैं (III. 3-4-13) जिसे गाड़ी को रोकने के लिये उपयोग में लाया जाता है।

सोम को गाड़ी से उतार कर राजसी आसन (आसन्दी) पर रखा जाता है। वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार की आसन्दियों का वर्णन है तथा सोम से सम्बन्धित आसन्दी उदुम्बर लकड़ी से बनती है। यह गाड़ी बड़ी होनी चाहिए क्योंकि इसे ऊपर उठाने में चार व्यक्ति लगते हैं। सामान्य राजा के लिए केवल दो आदमी आवश्यक होते हैं (III. 3-4-26)। यह घुटनों की ऊँचाई तक पहुँच सकती है (जानु-सम्मित XII, 8-3-5)।

शतपथ ब्राह्मण का एक अध्याय सुरा खरीदने के विषय में है, सस्य को सीसे के बदले में, टोक्मा को ऊन के बदले में, चावल को रुई के बदले में खरीदा जाता था। ऊन और धागे का काम औरतों का था (XII. 7-2-11)।

प्रारम्भ में खोजे या प्रयुक्त किये सभी औजारों के विवरण देने का कोई अन्त नहीं है। अभिषु (लगाम), असि (चाकू या उस्तरा, बाद में तलवार), इतसुन और कत (चटाई), इषुर्धसिन (तीरों के साथ तरकस), उख (कड़ाहा), उपराव (आवाज करने वाले छिद्र), उपवेश (फावड़े वाली लकड़ी), उपानह (जूते), उष्मिश (पगड़ी), कलश, द्रोण कलश (भाण्ड, कुल्हड़, घड़े), कशिपु (कुर्सियों के लिए गद्दे), कूर्च (मोढ़ा, विशेष तिपाई XI. 5-3-4), तन्त्र (करघा, ऊन, धागा) XIV. 2-2-22, तुलनार्थ यजु-38), तन्त्रायिने (उसके लिये जो करघे पर काम करता है) और उर्ती (XII.2-2-4), सस (शल्य क्रिया का चाकू), सिक्य (जाली), सीर (हल)। अथर्वेद, तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में तल्प (सोने वाले बिस्तर) का उल्लेख है। भगवान्

विराट सृष्टि को बुनने वाला है और इस सम्बन्ध में ऋग्वेद (X, 130-1-2) में दैवी बुनाई और बुनाई की नली (तसरणि) का वर्णन मिलता है।

हमारे देश में क्षेत्रमिति का विकास अग्नि-अनुष्ठानों के सन्दर्भ में हुआ। क्षेत्रमिति का अर्थ भूमि की माप तथा भूमि का स्थान निर्धारण हैं। माप में यादृच्छिकता के साथ ही स्वीकृत इकाइयों की आवश्यकता पड़ती है। अग्नि-बेदी के लिए यजमान का हाथ ऊपर उठाकर जो ऊँचाई आती है एक पुरुष कहलाती थी। इससे सामान्य व्यक्ति संतुष्ट हो सकता था परन्तु यह सर्वमान्य इकाई नहीं थी। इसी तरह से हाथ की लम्बाई पर आश्रित माप (अरत्नि), पैर और कदम (प्रक्रम) केवल मोटे तौर पर उपयोग हो सकते थे। अरत्नि=24 अंगुली, प्रदेश=12 अंग, वितस्ति=13 अंग, व्यायम=4 अरत्नि=96 अंग, व्याम=पुरुष=5 अरत्नि=120 अंग (व्यायम=वियम)।

कौटिल्य ने भार के वैध प्रमाण की संस्तुति की है लेकिन लम्बाई के बारे में उसने क्या कहा? लम्बी दूरियों के लिए योजन (एक बार जोत कर या बिना जुआ नाधे तै की गई दूरी(=4 क्रोश=8 मील) है। कुछ गणनाओं में =2.5 अंग्रेजी मील, कभी-कभी=8 क्रोश) है।

क्रोश√क्रुश=चीखना चिल्लाना=एक वैदिक क्रिया है। रोने या चिल्लाने के अर्थ में क्रोश शब्द का उपयोग यजुर्वेद में (XXX. 19) किया गया है। साथ में संगीत या आवाज उत्पन्न करने वाले साधनों तथा व्यवसायों की सूची है। लेकिन इसमें क्रोश का उपयोग दूरी नापने के लिए नहीं हुआ। यह सम्भवत: बुलाने के लिए की गयी आवाज का परिसर है। एक क्रोश (हिन्दी में कोस) =1000 दण्ड=4000 हाथ=1/4 योजन, दूसरों के अनुसार=2000 दंड=8000 हाथ=1/2 योजन। गव्यूति सबसे सीधी-साधी एवं महत्वपूर्ण युक्ति जिससे लम्बाई नापी जाती है, साधन शुल्व है या रज्जु है जिसका अर्थ रस्सी है। वेदिकाओं के नापने में यह इतनी महत्वपूर्ण थी कि इसे शुल्व शास्त्र कहा जाने लगा और हमारे शुल्बशास्त्र का ज्यामिति में महत्वपूर्ण योगदान है। एक पेड़ है जिसे रज्जुदल (Cordia mycxa या Cardia latifolia) कहते हैं जिसकी छाल से भारत में रस्सियाँ बनाई जाती हैं। (शतप ब्रा. XIII. 4-4-5.7) रज्जु का उपयोग महावेदी बनाने में किया जाता रहा है (शतप-ब्रा. X. 2-3-8-1)। ये रस्सियाँ 30 या 24 कदम (परिक्रमा) होती थीं। अग्नि

यज्ञ में माप की इकाई पुरुष होने से प्रायः तीन पुरुष लम्बी रस्सी ली जाती थी और तब सात गुना करते थे (शतप-ब्रा. X. 2-3-12)।

माप में जो अन्य सहायक वस्तुएँ थीं वे **युग** (जुआ) और **साम्य** (पिन) या **युग-साम्य** थे। साम्य खदिर लकड़ी की छड़ी है जो छः या आठ इन्च लम्बी होती है तथा इसका उपयोग निचले पिसाई पत्थर में किया जाता है और अग्निकर्म में प्रयुक्त होने वाली दस सहायक युक्तियों में से है—सुप्र, अग्निहोत्र, ध्वनि, स्फ्य, कपाल, **साम्य,** कृष्णाजिन, उलूखल, मूसला, दृशद, और नपल। क्षेत्रमिति में साम्य का उपयोग अग्निवेदी बनाने में, रेखायें खींचने से पहले स्थान निर्धारित करने में किया जाता है। शंकु (पिन या पेग) शुल्व गणितज्ञों की प्रिय युक्ति थी। ये खूंटे आगे की माप के लिए लगाये जाते हैं। पहले एक खूंटी गाड़कर तथा भूमि की पैमाइश पगों (कदमों) में की जाती है।

रज्जु या रस्सी के बाद **वेणु** या **वंश** (बाँस या गन्ने की छडी) का उपयोग होता था। ब्राह्मण साहित्य में यस्ति (बाँस की लाठी) का उल्लेख है। बाँस खोखला होता है। ऐसा कहा जाता था कि अग्नि एक बार भगवान से दूर जाकर बाँस के तने में प्रवेश कर गयी तथा दोनों तरफ उसने गांठें लगा लीं जिससे उसे कोई पा न सके। वह जलाती हुई जहाँ-जहाँ गई वहाँ वहाँ दाग बन गए। आपस्तम्ब शुल्व सूत्र एक वर्ग बनाने के लिए वेणु की संस्तुति करता है। बौधायन शुल्ब सूत्र में वेणु और स्पंद्य का प्रयोग हुआ है। "तब आग का क्षेत्रफल मापा गया। वेणु पर एक पुरुष की दूरी पर दो चिन्ह लगा दिये गये। तीसरा चिन्ह दोनों के बीचोबीच बनाया गया। जो कुछ रस्सी (स्पन्द्य) से किया जाता है वह यहाँ वेणु से किया गया (बौधा-शुल्ब. III-12-15)।"

लकडी की तलवार (**स्फ्य**) का प्रयोग ज्यामितीय क्रियाओं में रेखायें खींचने के लिए किया जाता था। ये रेखायें जमीन पर खींची जाती थीं। प्राचीन ज्यामिति में आरेख भूमि पर ही बनाये जाते थे। इन रेखाओं पर से धूल हटाने तथा कभी-कभी उनपर पानी छिड़कने के लिए अंगूठे तथा अनामिका अंगुली का उल्लेख है (इगलिंग, शतप-ब्रा. II, 1-2-2)। रेखाओं पर पानी छिड़कने को सम्भर कहते हैं। स्फ्य में नोक रहती थी जो रेखायें खींचने में सहायक होती हैं। कभी-कभी रेखायें सींग की सहायता से खींची जाती थीं। गोलाकार रेखायें तथा गोल प्राचीर भी साधारण यान्त्रिक युक्तियों द्वारा खीचें जाते थे। शतपथ

ब्राह्मण में (VI. 3·3-25) तीन केन्द्रीय भूत वृत्त (परम्-परम् वरीयसी लेखा भवन्ति) खींचने का उल्लेख है जो माप में एक दूसरे से बड़े होते थे।

अब मैं कुछ यांत्रिक युक्तियों के विषय में कहूँगा जिनका उपयोग खगोल शास्त्र में होता था। वैदिक शब्दावली में नक्षत्र का प्रयोग सभी तारों, तो कभी चन्द्रमा के लिए भी होता था। यजुर्वेद में नक्षत्रद्रश शब्द का उल्लेख उन खगोलवेत्ताओं के लिए आता है जो अंतरिक्ष में घूमते पिण्डों को देखते थे। प्रारम्भिक खगोलिकी में भी समय, पिण्डों के कोणीय अन्तरण तथा बड़ी दूरियों की नाप के लिए किसी न किसी युक्ति की आवश्यकता पड़ती थी। त्रिविमीय ज्यामिति और त्रिकोणमिति आवश्यक थी। अथर्ववेद (XIX· 7-1-5) 27 नक्षत्रों के बारे में बताता है। यदि बहुत नहीं तो कुछ ग्रह तो हमारे प्रेक्षकों को ज्ञात थे। वे निश्चित रूप से जानते थे कि नक्षत्रों में यथा चित्रा, पुष्य (पितृ नक्षत्र) एकल हैं, कुछ युग्म रूप में हैंयथा पुनर्वसु तथा विशाखा और कृत्तिका कई हैं। तैत्तिरीय संहिता में कृत्तिका समूह के हर नक्षत्र का नाम दिया गया—अम्ब, दुल, नितत्निः, अभ्रयन्ति, मेघयन्ति, वर्षयन्ति और चुपुनिक। इन सात कृत्तिकाओं का विवाह सात सिद्ध पुरुषों से हुआ है जो वृहद उर्स का निर्माण करती हैं।

वैदिक काल से लेकर वेदांग-ज्योतिष के काल तक खगोलीय प्रेक्षण दृष्टि पर आधारित थे। खगोल विद्या काल के ज्ञान पर निर्भर करती है (कला-विधान-शास्त्रम् यो ज्योतिषम् वेद स वेद यज्ञम्, यजु.3)। यह उल्लेखनीय प्रेक्षण था कि—

"सूर्य और चन्द्रमा स्रविष्ठ या धनिष्ठ के आरम्भ में उत्तरायण होते हैं, सूर्य सर्प या अश्लेष के मध्य में दक्षिण की ओर जाता है। इन दोनों गतियों की शुरुआत माघ और श्रावण के महीनों में होती है (यजु, 7)।" दिन की लम्बाई में जो वृद्धि या रात के समय में जो कमी आती है उसका मात्रात्मक निर्धारण ज्ञात करना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"उत्तरी दिशा में सूर्य द्वारा गति करते समय दिन का लम्बा होना तथा रात का घटना जल के एक प्रस्थ तुल्य है, दक्षिणायन होने पर इसका उल्टा होता है (यजु. 8)।"

यह श्लोक पीतल या तांबे की पतली चादर के प्याले की ओर संकेत करता है जो 12½ पल भार के तुल्य जल धारण करता हो। इसमें तली पर छोटा छेद होता है जिससे पानी प्याले में प्रवेश करता है जब इसे किसी बड़ी परात में अधिक मात्रा में जल में तैरने दिया जाता है। जब प्याला पानी से भर जाता है तो आवाज के साथ डूब जाता है। ऐसा पाया गया है कि 183 प्रस्थ, 12 नाडिका या 6 मुहूर्त के बराबर होते हैं। इसी प्रकार की युक्ति सूर्य के दक्षिणायन तथा उत्तरायण होने पर दिन और रात की लम्बाई में अन्तर ज्ञात करने के लिए प्रयुक्त की जाती थी। यह अन्तर कश्मीर के निकटवर्ती स्थानों से मेल खाता है। लगध महीने, वर्ष, मुहूर्त, लग्न (उदयस), पर्व, दिन, ऋतुओं, महीने की बात करता है लेकिन वह ऊपर दी गई जलघड़ी के वर्णन के अतिरिक्त किसी यान्त्रिक युक्ति के बारे में बातें नहीं करता है।

आर्यभट प्रथम (आर्यभटीय का लेखक, भास्कर प्रथम द्वारा जिसका भाष्य हुआ) के काल तक अनेक यान्त्रिक युक्तियाँ खगोलिकी में प्रयोग की जाती थीं। ऐसा लगता है आर्यभट प्रथम ने ही सूर्य घड़ी कील (शंकुयन्त्र) का उपयोग किया। प्लिनी के अनुसार सूर्य घड़ी कील की खोज एनेव-सीमेन्स ने की जिसने स्पार्टा में एक सूर्य घड़ी प्रदर्शित की जिसका नाम सियोथेरियन था। मिलेटसवासी एनेक्सीमेन्स 5वीं सदी ई०पू० के मध्य में जीवित था। ब्रह्म गुप्त ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में एक पूरा अध्याय (बारहवाँ) खगोलिकी में उपयोग होने वाले यन्त्रों के बारे में दिया है जिसे यन्त्राध्याय कहते हैं। अब मैं उपयोग आने वाली कुछ युक्तियों के बारे में बताऊँगा (1) धनुयन्त्र (2) सूर्यगोलक यन्त्र (3) चक्र यन्त्र (4) यस्ति यन्त्र (5) शंकु यन्त्र या सूर्य घड़ी कील (6) घटिका यन्त्र (7) कपाल यंत्र (8) कर्तरी यंत्र (9) पीठ यंत्र (10) सलिल यंत्र (11) ब्रह्म या सान यंत्र (12) अवलम्ब सूत्र (13) कर्ण या छाया कर्ण (14) छाया या शंकु छाया या सूर्य घड़ी (15) दिनार्ध यंत्र (16) अर्क यंत्र (17) यक्ष या पलांश यंत्र (मैंने 'ब्रह्मगुप्त एण्ड हिज वर्क्स' (1968) नामक पुस्तक में इसका विस्तृत विवरण दिया है।)

यह आश्चर्य की बात है कि शल्य चिकित्सा तथा शल्यात्मक युक्तियों में भारतीयों ने अन्य किसी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक कुशलता दिखाई है। सुश्रुत कृत सूत्रस्थान में अध्याय 7 और 8 में शल्यक्रियाओं के बारे में विस्तृत विवरण है।

शल्य क्रिया वाले यन्त्रों की संख्या 101 है परन्तु इस सूची को पूरा करने में मनुष्य का हाथ भी यन्त्र माना गया है। कोई भी बाहरी पदार्थ जो मानव शरीर में पहुँच कर दर्द उत्पन्न करता है तो शल्यक्रिया के यन्त्र उसे शरीर से बाहर निकालने के साधन होते हैं। इन्हें छः समूहों में वर्गीकृत किया गया है— स्वस्तिक, संदेश, ताल, नाड़ी यन्त्र, शलाका और उपयन्त्र। वैदिक संकल्पना यह है कि मानव शरीर में 360 हड्डियाँ हैं। लेकिन शल्य तन्त्र द्वारा केवल 102 का ही पता चला है।

स्वस्तिक यंत्र अनेक प्रकार की चिमटियाँ हैं तथा इनके 24 उपवर्ग हैं। संदेश दो प्रकार के चिमटे हैं, दो प्रकार के तालयंत्र, 20 प्रकार के नाड़ी यंत्र, 28 प्रकार की शलाकाएं, 25 प्रकार के उपयंत्र है। इस तरह 101 की सूची पूर्ण होती है। ये सब यंत्र लोहे के बने होते थे (जहाँ लोहा नहीं था वहाँ अन्य धातु या मिश्रधातु उपयोग में ला सकते थे लेकिन सावधानी के साथ)। इन यंत्रों के मुख चिड़ियों या जंगली जानवरों की तरह के होते थे (VII. 5)। औषधीय बूटियों के चुनाव के विषय में अथर्ववेद के एक श्लोक में जानवरों द्वारा औषधीय बूटियों की पहचान का उल्लेख आता है और यहाँ शल्य क्रिया में यंत्रों द्वारा जानवरों के प्रसंग का उल्लेख पाते हैं। योगासनों तथा नाड़ी शास्त्र में भी भारतीयों ने पशुओं का ही अनुगमन किया प्रतीत होता है। जीवन की प्राकृतिक विधियों पर निर्भरता इन शास्त्रों में भारत की मौलिकता को बताने वाला है। यह बताता है कि ये यंत्र अपने ही देश में बनाये गये तथा जो उधार लिये गये उन्हें सुधार द्वारा अपनाया गया। यान्त्रिक युक्तियों को ऋषियों ने अनुष्ठानों के लिए निकाला था। अधिक सुधार करके इन्हीं को शल्यक्रिया में प्रयुक्त किया।

स्वस्तिक 18 अंगुल के बनाये जाते हैं तथा उनके मुख शेर, चीता, भेड़िया, बिल्ली, सियार, हिरन, कौवे, समुद्री पक्षी, कूरूर, कस (एक प्रकार की गौरैया), गिद्ध, बाज, उल्लू, चील, भृंगराज (पक्षी), अंजलीकर्ण, अदर्भंजन, नन्दीमुखी और इसी प्रकार के पशु-पक्षी जैसे होते थे। ये पशु स्पष्टतः भारतीय हैं अतः यंत्रों को बाहर से नहीं लाया गया था।

पुनः ऐसा कहा गया है कि स्वस्तिक की दोनों पत्तियों को मसूर की दाल के बराबर बोल्ट द्वारा जड़ देना चाहिए तथा इनके हत्थे अंकुश की शक्ल में होने चाहिए। यहाँ भी पूर्ण भारतीयता है और इस प्रकार हर सम्भाव्यता में उनका

निर्माण इसी देश में हुआ है । स्वस्तिक का उपयोग हड्डियों के बीच फँसे कांटें या बाह्य पदार्थ को निकालने के लिए किया जाता था ।

संदेश या चिमटे बिना बोल्ट या बोल्ट की सहायता से जड़े रहते थे तथा इनकी लम्बाई 16 अंगुल होती थी तथा इनका उपयोग त्वचा. मांस, शिराएँ या तन्त्रिकाओं में से काँटे या बाह्य पदार्थ निकालने के लिए होता था ।

ताल यन्त्र (12 अंगुल लम्बे) एकलो या युग्मतल होते हैं । एकल ताल मछली के आकार जैसा होता है जबकि युग्म ताल भेटुली जाति की मछलो के मुख जैसा लगता है । ताल का प्रयोग नाक, कान आदि के अन्दर से फांस निकालने के लिए किया जाता है ।

नाडी यन्त्र सिरिंज, एनीमा आदि की तरह का एक नलिकाकार खोखला यन्त्र है । कुछ के दोनों किनारे खुले होते हैं तथा कुछ में एक किनारा बन्द रहता है । नाडीयन्त्र अनेक आकार के होते हैं और भगन्दर, बवासीर, अण्ड शोथ, गुदा से सम्बन्धित रोगों में प्रयुक्त होते हैं । इनमें से कुछ मूत्रद्वार नली, अंतडी, योनि, गर्भाशय में कुछ भी प्रवेश कराने के लिए तथा औषधीय अन्तरग्रंहण में उपयोग होते हैं या उनके साथ जिन्हें अलंबुयन्त्र के साथ उपयोग किया जाता है ।

शलाका यन्त्र आवश्यकतानुसार अनेक आकार और आकृति के होते हैं । चार शलाका, दो युग्मों में पीब वाले किसी अंग में पीब का पता लगाने के लिए (एषण), या चूसने (व्यूहने), काटने तथा उस अंग से शल्यम् निकालने, तथा एक पिण्ड को एक भाग से दूसरे भाग को ले जाने (चलनम्) या प्रभावित हिस्से से उसे अलग करने (आहरण) के लिए उपयोग में लाया जाता है । तीन प्रकार की शलाकाएँ क्षारीय दवाओं को लगाने के लिए प्रयुक्त होती हैं, वे करकुल के आकार की खल्व की तरह मुख गुहा वाली होती हैं । दागने के लिए छह प्रकार की शलाकाएँ होती हैं । एक प्रकार नाक की गाँठ अलग करने के लिए प्रयुक्त होती । उपयन्त्रों में रस्सियों, वेणिका, रेशम के धागे, छाल, पेडों की त्वचा, अष्टिल, अण्डाकार कंकड़, हथौड़ा, कील, घोड़े के अयाल, हाथ, पैर, अंगुली शल्य सहायता हेतु दांते, चुम्बक सम्मिलित हैं ।

रसायन और औषधि के क्षेत्र में प्रयुक्त यान्त्रिक युक्तियों, यज्ञकर्म में प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों जैसी ही होती थीं । गोलाकार गार्हपत्य अग्नि ने

चूल्हे का रूप धारण किया गया तथा रसोईघर के पात्र अग्नि-यज्ञ के पात्र हैं। बडी रसोइयों में बड़े आकार के करछुल, कडाही, चक्कियाँ यन्त्र होते हैं। यज्ञ भी बड़े पैमाने पर होते थे। चरक संहिता मे उन यंत्रों की सूची है जो आयुर्वेदशालाओं या औषधि प्रयोगशालाओं में प्रयुक्त होते हैं। पारा (अन्य धातु भी, गन्धक, अभ्रक, अनेक प्रकार के रसों और उपरसों के अतिरिक्त, उष्मा को नियन्त्रित करने की तकनीक, आसवन और वाष्पीकरण द्वारा ठोस बनाने की तकनीक का भी विकास हुआ।

धातु विज्ञान का विकास धीरे-धीरे हुआ तथा इसने धौकनी तथा भट्टियों का और प्रगलन, हथियारों पर पानी चढ़ाना, शुद्धीकरण, ढलाई गढ़ाई का विकास किया।

———

6. भारत में प्राचीन रासायनिक साधित्र*

मैं वैज्ञानिक अनुसंधान समिति उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे समिति का वार्षिक व्याख्यान ऐसे विषय पर देने के लिए कहा है जिससे मैं विगत अनेक वर्षों से जुड़ा रहा हूँ। यह है हमारे प्राचीन देश में अपने ही स्रोतों से रसायन का विकास। यह सन्तोष की बात है कि इस क्षेत्र में मैंने जो श्रम किया उसे इसी राज्य की अन्य संस्था हिन्दी समिति ने "प्राचीन भारत में रसायन का विकास" पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है और मुझे प्रसन्नता है कि हिन्दी के इस प्रकाशन ने अध्यक्ष का ध्यान आकृष्ट किया है। आप सभी पहले से ही स्वर्गीय प्रफुल्ल चन्द्र राय द्वारा किये गये कार्य को जानते हैं जिन्होंने उस समय जो भी सामग्री एकत्र हो सकी उसके आधार इस प्रकार के अध्ययन की नींव रखी। उनकी पुस्तक 'हिन्दू केमिस्ट्री' (दो खण्ड 1902, 1909) को प्रकाशित हुए 50 वर्ष बीत चुके हैं। कुछ वर्षों पूर्व (1956 में) हमारे एक मित्र तथा डॉ॰ राय के शिष्य प्रो॰ प्रियदारंजन राय ने हिन्दू केमिस्ट्री के दोनों खण्डों को संयुक्त करके तथा उनका सम्पादन करके 'इन्डियन केमिकल सोसायटी' से प्रकाशित किया है। वास्तव में उन्होंने उस महान विद्वान की पुस्तक को पठनीय रूप देने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में हम वृजेन्द्र नाथ सियाल के उनकी पुस्तक The Positive Sciences of Ancient Hindus 1915 के लिए ऋणी हैं जिसमें उन्होंने अन्य विषयों के साथ वैशेषिक तथा अन्य भारतीय दर्शनों द्वारा विकसित परमाणुवाद के बारे में भी उल्लेख किया है। हाल ही के वर्षों में यह विषय विस्तृत रूप से अध्ययन किया गया है तथा हमारे ही एक साथी महामहोपाध्याय डॉ॰ उमेश मिश्र (इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने अपने परिश्रम को एक प्रबन्ध "Conce-

---

* केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान, लखनऊ में 14 अप्रैल 1962 को वैज्ञानिक अनुसंधान समिति उ॰ प्र॰ के विशेष अधिवेशन में दिया गया वार्षिक व्याख्यान।

ption of Matter" के रूप में प्रकाशित किया है (1936)। हमारे एक अन्य मित्र सुप्रसिद्ध प्राच्य विज्ञानी परशुराम कृष्ण गोडे, भण्डारकर इंस्टीट्यूट पूना, ने अपने अनेक स्तरीय निबन्धों द्वारा विद्वानों का ध्यान विभिन्न विषयों की ओर आकृष्ट किया है तथा सुगन्ध और सत्व विषयक गन्धयुक्ति और गन्धवाह नामक दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ (1945, 1946) खोजी हैं जो हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं।

श्री श्याम जी शास्त्री द्वारा कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्राप्ति (1905) तथा प्रकाशन (1909) इस शताब्दी की एक उल्लेखनीय घटना है। इस प्रकाशन से ही काम करने वालों को करने के लिए बहुत कुछ मिल गया है। कई वर्षों पहले मैंने कौटिल्य का ग्रन्थ पढ़ा तो मुझे इसकी पूर्णता देखकर आश्चर्य हुआ और मैंने 1945 में हिन्दी में एक लेख 'कौटिल्यकालीन रसायन' या 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र में रसायन' लिखा जो नाथूराम प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में छपा तथा इसी विषय पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय की 'रसायन समिति' को भी सम्बोधित किया। कुछ वर्षों पूर्व जब मैंने बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्वाधान में पटना में व्याख्यान दिये (ये व्याख्यान पुस्तकाकार छपे हैं, 1954) तो एक पूर्ण व्याख्यान कौटिल्य के समय के सामान्य विज्ञान पर था।

हम अपने प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाशित करने में आलसी रहे हैं। हम सर पी० सी० राय के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने 'रसार्णव' ग्रन्थ (1910) को सम्पादित किया है तथा 'रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल' द्वारा प्रकाशन की व्यवस्था की। श्री वैद्य यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य ने अब से 50 वर्ष पूर्व आयुर्वेद पर अनेक छोटे ग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था की जिनमें गोविन्द भगवतपाद कृत रस हृदय तन्त्र (1911), गोविन्दाचार्य कृत रस सार (1912), यशोधर कृत रस प्रकाश सुधाकर (1911) आदि मुख्य हैं। मूल तथा अनूदित अनेक रचनाएँ वाराणसी के प्रकाशकों की रुचि के कारण अब उपलब्ध हैं। मैं उनके साहित्य के सम्पूर्ण प्रकाशन की ओर संकेत कर रहा हूँ जिसमें चरक, सुश्रुत, कश्यप, सारंगधर, वृन्दमाधव, चक्रपाणि और अन्य हैं। नवीं शताब्दी का एक लघुग्रंथ तिसत कृत 'चिकित्सा' अब प्रकाशित (1950) हो चुका है। बहुत से पुराने छोटे प्रकाशन कुछ पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं तथा अब वे नहीं छपते। यह विचित्र है कि हमने उन नागार्जुन के ग्रंथों का प्रकाशन नहीं किया जो पारा यौगिकों के रसायन के जनक कहे जाते

हैं। रसायन तथा औषधि विज्ञान में भी उनका योगदान कम नहीं है। इस देश के तन्त्र साहित्य में वर्णित कीमियागरी (रसशास्त्र) की ओर पाश्चात्य इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय सर पी०सी० राय को है। वैदिक और ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से मुझे ज्ञात हुआ कि जिस तरह से यज्ञ के इर्द-गिर्द आर्यों ने खगोलीय ज्ञान तथा ज्यामिति विकसित की उसी तरह से उन्होंने शरीर रचना तथा रोगों के उपचार के अलावा प्रारम्भिक रसायन और जड़ी-बूटियों के विज्ञान का विकास किया। यज्ञ सारी क्रियाओं का केन्द्र बन गया। यह मानव ज्ञान के विकास के इतिहास का एक महान युग था। व्याकरण, छन्द शास्त्र, वैदिक संगीत ये सभी यज्ञ कर्म से अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु विकसित किये गये थे।

यजुर्वेद में हिरण्य अयस, श्याम, लोहा, सीस तथा त्रपु धातुओं का उल्लेख मिलता है जो सोना, ताँबा, लोहा, सीसा तथा टिन के लिए प्रयुक्त हैं। अयस्, श्याम, लोहा शब्द विभिन्न युगों में पृथक-पृथक अर्थ रखते थे। आयुर्वेदिक काल में लोहा सभी धातुओं के लिए सामान्य शब्द था। अयस् इसेन का निकटवर्ती है। जर्मन भाषा में इसका अर्थ लोहा होता है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में लोहा इस अर्थ में नहीं प्रयुक्त है बल्कि सामान्य रूप से अयस् का उपयोग हुआ है। लोहा या अयस् का उपयोग तीर और खम्भे बनाने में किया जाता था। लोहे के गलाने की भट्ठी को अयस्ताप कहते हैं। सीसा आसानी से पिघलता था तथा इसका प्रयोग शत्रु पर प्रहार करने में प्रयुक्त होता था। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद के प्रसिद्ध सूक्त दध्नर्थं सीसम् का उल्लेख किया जा सकता है।

परम्पराओं के अनुसार अथर्वन पहला व्यक्ति था जिसने यांत्रिक घर्षण द्वारा अग्नि की खोज की। मानव निर्मित अग्नि सांस्कृतिक कार्यकलापों का केन्द्र बन गयी। ब्राह्मण साहित्य में लकड़ी के टुकड़ों से अग्नि प्राप्त करने के अनेक विवरण मिलते हैं। यज्ञ की यह अग्नि बाद में रसोईघर में तथा औषधि निर्माण के लिए रसायनशालाओं में प्रवेश कर गयी। चिति से अनेक प्रकार की भट्ठियाँ बनने लगीं जिनका उपयोग न केवल उत्सवों में अपितु सार्वजनिक उपयोग की वस्तुएँ बनाने के लिए होने लगा। यज्ञ प्रारम्भिक प्रयोगशाला थे जो जलाऊ लकड़ी, तिनका, छोटे और बड़े चम्मच, प्याले, करछुल, लकडी के तसले, छन्ने और जाली, मिश्रण बनाने वाले कटोरे और अन्य वस्तुओं से लैस थे जो यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में बताई गयी हैं। बाद में इनमें खरल,

ओसाने की टोकरी, चमड़ा, पत्थर के टुकड़े तथा चिमटे सम्मिलित हो गये। जिस प्रकार से हमारी प्रयोगशालाओं में अनेक प्रकार की तश्तरियाँ, बीकर होते हैं उसी प्रकार प्राचीन काल में भी हमारे पास अनेक प्रकार के प्याले (ग्रह) होते थे, जिनकी लम्बी सूची तैत्तिरीय संहिता मे दी गयी है (यजुर्वेद XVIII. 19 में भी)।

आपको यह बताना अनावश्यक है कि किण्वन या एन्जाइम उद्योग हमारी संस्कृति की ही तरह पुराना है। इस देश की सभ्यता में कोइ भी ऐसा काल नहीं रहा जब मक्खन, छाछ, दही और दूध का भरपूर उपयोग न हुआ हो। दीर्घकालीन तथा सुनियोजित प्रयोग के फलस्वरूप ही सामान्य दूध से अच्छी दही मिल पाई होगी। दूध से मक्खन प्राप्त करने हेतु मथानी का उपयोग युगनिर्मायक घटना रही होगी। पुनः मक्खन से घी बनाना इस देश की आज भी एक विशेषता है।

किण्वन उद्योग का दूसरा पक्ष सुरा या ऐल्कोहलीय पेय तैयार करना था। इस पेय के हानिकारक प्रभाव तो बाद में ज्ञात हो पाये लेकिन पहलेपहल जब इसकी खोज हुई तो इने-गिने लोग इसका आनंद उठा सकते थे और इस में मनुष्य को नया ओज और नव यौवन मिला। उत्तेजना देने वाली ऐसे ही अन्य जड़ीबूटी सोम थी जो अब विलुप्ति के कगार पर हैं। मेरा यह व्यक्तिगत विचार है कि यद्यपि किण्वन की प्रक्रिया वैदिक युग में लोगों को ज्ञात थी परंतु आसवन का पता बाद में चला। सोम बनाने के लिए पात्र के रूप में घड़े (कुम्भ) का उपयोग होता था जिसमें सौ या नौ छेद होते थे, ये सिक्य से लटके होते थे जिसके नीचे आग जलती रहती थी। सोमरस को टपका करके बर्तन में एकत्र किया जाता था। कुछ ज्ञाताओं के अनुसार परिश्रुत शब्द का अर्थ आसवन होता है लेकिन मेरा विचार है कि वैदिक युग में इस शब्द का प्रयोग किण्वन प्रक्रिया के बाद सत्व को छानने और निचोड़ने तक सीमित था। अधिषवण एक दाब-यंत्र था जिसमें दो पटरे होते थे जिनके द्वारा सोमरस निचोड़ा जाता था। इसके साथ गोल कटा दाब-चमड़ा (अधिषवण परिकृत्तम) रहता था। इसका विवरण शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। इसी में अनेक प्रकार के दाब यंत्रों | जैसे उपांशु सवन तथा ग्रावण का वर्णन है। इसमें एक प्रकार की कड़ाही उख का भी उल्लेख है जिसमें आग रखी जाती थी। यह मिट्टी की बनी होती थी जिसमें पलाश की छाल (पर्णकषाय) का अर्क और कठोरता लाने के लिए चिकनी मिट्टी में बकरी का बाल मिलाया जाता था। तन्यता बढ़ाने के लिए शर्करा या बालू, अश्म या पत्थरों का मोटा चूर्ण, अयोरस या लोहे की जंग मिलाई

जाती थी। सम्भवतः लोहे के मोरचे या लोहे के छीलन के उपयोग का यह पहला उल्लेख है। उख के बारे में भी वर्णन है—ऊँचाई में एक प्रादेश या 8 इंच ढाल भी इतना ही जिसमें ऊपर की ओर क्षैतिज पट्टियाँ होती थीं—इसमें दो या चार स्तन, दो उद्धि होते थे। मेरा मानना यह है कि उख बनाने से प्राप्त अनुभव के आधार पर क्रूसिबुल (मूषा) बनाने में सहायता मिली जिसका उपयोग धातु उद्योग, भस्म या अन्य औषधियों के निर्माण में हुआ। शतपथ ब्राह्मण में रेखायें खींचने के लिए तथा उकेरने के लिए हिरन के सींग के उपयोग का वर्णन है। यह कहना अनावश्यक है कि कुलाल का चाक इस काल का उल्लेखनीय आविष्कार था। शतपथ ब्राह्मण में रथ चक्र के अलावा कौलाल चक्र या कुम्हार के चाक का भी वर्णन है। इस समय मैं तीसरे चक्र, कताई चक्र, की बात नहीं कर रहा हूँ। वास्तव में तन्तुवाय चक्र, रथचक्र और कुलाल चक्र ने सभ्यता के इतिहास में एक नया युग दिया।

शतपथ में न केवल पवित्र या कपड़े के या कभी कभी कुश की घास के बने सामान्य छन्ने का वर्णन है बल्कि इसमें दशापवित्र या किनारेदार छन्ना कपड़े का भी वर्णन है। बाहरी उपयोग के लिए छन्ने को बहिष्पवित्र तथा अन्य आन्तरिक उपयोग के लिए छन्ने को अन्तःपवित्र कहते थे। छन्ने द्वारा प्राप्त द्रव पवित्रपूत कहलाता था तथा द्रव एकत्र करने वाले पात्र को पूतभृत कहते थे। आधवनीय एक बर्तन था जिसमें सोम के पौधे को उबाला, मथा और साफ किया जाता था। महावीर एक प्रकार का एक ऊँचा टोंटीदार बर्तन था जो तीन अंगुल चौड़ा होता था।

कात्यायन ने अंकुरित धान, जौ और लाजा (लावा) से ऐल्कोहल बनाने के बारे में विस्तार से बताया है। सुरा को सोम से भिन्न माना गया यद्यपि दोनों स्वादिष्ट, तीव्र, आनन्ददायक और अनुप्राणित करने वाले (स्वाद्वीं, तीव्र, अमृत और मधुमती) हैं। किण्वन वाले द्रव में मिलाये जाने वाले मसाले को नग्नाहु कहते थे और उनमें सर्जत्वक (Vatica robasta की छाल), त्रिफला, सुंठी, पुनर्नवा, चित्रक, अश्वगन्धा, पिप्पली, धान्यक, यावनी, जीरक आदि होते थे। किण्वन के बाद द्रव को गाय या घोड़े के बाल से बने छन्ने द्वारा छानते थे। इसमें दूध भी मिलाया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि छन्ने के रूप में घास, कपड़े, गाय तथा घोड़े के बाल का उपयोग होता था। प्रो० इगेलिंग ने अपने शतपथ के अनुवाद में छानने की प्रक्रिया का वर्णन किया है।

शतपथ युग कृषि और दुग्ध व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध था। यजुर्वेद में पुरीष (खाद के लिए) जैसे शब्द मिलते हैं और पुरीष्य धनी और समृद्धशाली होने का पर्याय था। दूसरा शब्द करीष था। करीष का मूल अर्थ बिखेरा हुआ है अतः 'कूड़ा' है। इसका दूसरा अर्थ 'खाद' एक पदार्थ है जो खेतिहरों के लिए महत्वपूर्ण है। अथर्वन ने आग की खोज की जिसका सम्बन्ध पुरीष्य से था, अर्थात् गाय के गोबर के कण्डे या उपले दीर्घकाल से जलाने के काम आते थे। यजुः के अधिकांश मन्त्रों में आग का पुरीष्य से गहरा सम्बन्ध था। यह एक रोचक बात है कि आयुर्वेद के बाद के कालों में गोबर के उपले (सूखे) जंगलों से एकत्र करके तापमान नियंत्रित करने में उनका उपयोग किया जाता था। करीष शब्द वेद ग्रन्थों में नहीं है परन्तु शतपथ में यह पुरीष का पर्यायवाची है और कृषि यानी खेती से निकट सम्बन्धित है।

वैदिक युग में जड़ी-बूटियों और वनस्पतियों का ओषधीय महत्व समझ में आ चुका था। ऋग्वेद की दसवीं पुस्तक में ओषधि सूक्त है। इसमें शत-सप्त जड़ी-बूटियों का वर्णन है जिसका अर्थ या तो सौ या सात या सात सौ है।

वैदिक युग में पौधों के जो नाम रखे गये थे वे बाद में बदल गये। मैं वैदिक युग की 78 वनस्पतियों की सूची बना पाया हूँ, इनमें से उल्लेखनीय हैं—odinna pinnata (अजश्रृंगी), Achyranthes aspera (अपामार्ग), Lagenaria vulgaris (अलाबू), Ficus glomerata (उदुम्बर), costus speciosus (कुष्ठ), Acacia catechu (खदिर), Borassus flabelliformis (गुल्गुल), Pippali (पिप्पली), Hemionite cordifolia (पृश्निपर्णी), Aegle marmelos (बल्व), curcuma longa (रजनी) और Terminalia bellerica (विभीतक)। त्रिफला बाद में इसमें जुड़ा। इन तीनों में से केवल विभीतक के बारे में जानकारी थी।

ब्राह्मण और चरक संहिता के बीच के काल में हुए विकास का वर्णन मैं नहीं कर रहा हूँ। अपामार्ग और पिप्पली के ऊपर अथर्ववेद में अनेक सूक्त हैं, तथा चरक-संहिता के दूसरे अध्याय में सूत्रस्थान में ही इनका वर्णन है। यह ग्रन्थ 200 औषधीय पौधों के बारे में बताता है। हम भारद्वाज, ऐत्रेय, पुनर्वसु, अग्निवेष और अन्यों के कृतज्ञ हैं जिन्होंने रसायन उत्पादों, उनके गुण और क्रियाओं के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन किया है। उस समय जो भी वस्तु पाई

गयी उसे औषधीय सूची में सम्मिलित कर लिया गया । खोजकर्ताओं की केवल एक धुन थी—"सभी प्राणियों का कल्याण" । उन्हें 'सर्वभूतहितैषिण:' कहते हैं । उन्होंने पौधे के हर अंग-जड़, छाल, मज्जा, स्राव, तना, रस, स्फुटन, क्षार, दूध, फल, फूल, राख, तेल, काँटे, पत्तियाँ, कन्द का प्रयोग किया । इसी काल के पाँच प्रकार के नमकों—सौवर्चल, सैंधव, विड, औद्भिद, सामुद्र—का परिचय हुआ । बाद में साधारण नमक, बोरेक्स और अमोनियम लवण की जानकारी हुई ।

चरक संहिता में रासायनिक क्रिया निम्न साधनों द्वारा होनी बताई गयी (1) जल की क्रिया विशेषकर घोलक के रूप में (2) ऊष्मा का उपयोग (3) छनन और शुद्धीकरण, (4) मथना और पायसीकरण (5) स्थान प्रभाव एवं भण्डारण (6) समय का प्रभाव (7) सुगन्धीकरण की क्रिया (8) गर्भाधान की क्रिया । उपकरणों में उसमें पहली बार तौलने के लिए तराजू या तुला तथा मापक बर्तन के बारे में बताया गया । यह कहना कठिन है कि प्रथम बार किसने सार्वजनिक रूप से मात्रात्मक माप की विधि समावेशित की । सीधी नाप में पैर, कदम, हाथ या अंगुल की माप कठिन नहीं थी । इस प्रकार के सन्दर्भ वेदों से त्रिपाद-ऊर्ध्वम् और दशांगुलम हैं जो रेखीय माप के द्योतक हैं । लेकिन चरक ने कल्पस्थान में तौलने और आयतन नापने की ओर संकेत किया है । सूर्य की किरणों में चमकते धूल के कण प्रारम्भिक सुविधाजनक इकाई हो सकते हैं । सरसों का बीज, चावल के दाने, अन्न, धान्यांश, जौ के दाने, तिल के दानों ने भी माप की सूझ दी जिसे सर्षप, तंडुल, धान्यमाष, यव, तिल आदि कहा गया । कुडव, द्रोण और शूर्प धारिता की माप के लिए थे । चरक संहिता में बताये गए इन मापों में से दो मानकों—कलिंगमान और मगधमान की उत्पत्ति हुई । यह विचित्र बात है कि यजुर्वेद में व्यवसायों की लम्बी सूची है—कौलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुकार और ज्याकार, रज्जुसर्ज, विदलकार, सुराकार, वास:-पल्पूली, रजयित्री और हिरण्यकार । परन्तु तुला के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है । तुला की खोज निश्चित रूप से वैदिक काल के अन्त में हुई । अनुपात (एक तिहाई, आधा, एक चौथाई) का विचार हालाँकि यज्ञों के युग में प्रभावी था किन्तु बाद में यह मानक बाँटों की उत्पत्ति का कारण बना । पुरातात्विक प्रमाण प्राचीन काल से ही तौलने की क्रियाओं की विद्यमानता बताते हैं । हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों की खुदाई में भी बाँट पाये गये हैं

(सबसे छोटा बांट—0·96 ग्राम और सबसे भारी बांट 29,680 ग्राम, लगभग 65 पौण्ड का है)।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से अनेक विषयों पर विस्तृत जानकारी मिलती है जिससे हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उसमें पहली बार खानों तथा खनिजों, धातु और धातुकर्म, निकष या विशेष पत्थर पर सोने की परीक्षा, त्वष्ट्रकर्म या सोने की पत्तर का चाँदी या ताँबे पर चिपकाना, छः प्रकार की शराब-मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मैरेय, और मधु बनाने, सुरा किण्व बनाने (ऐल्कोहल निर्माण हेतु किण्वक या एन्जाइम बनाने के बारे में विस्तृत विवरण तथा भोजन में विष की पहचान, एवं मृत्यु के बाद शवपरीक्षा से सम्बन्धित विश्लेषणात्मक जानकारी मिलती है। रासायनिक क्रियाओं में रुचि रखने वालों के लिए एक और सार्थक रूप से उपयोगी वस्तु अस्थितुत्थ (हड्डियों की मूषा), समसीस तुत्थ (सीसा+मिट्टी से बनी मूषा) और शुष्क तुत्थ (सूखी मिट्टी से बनी मूषा) के बारे में भी जानकारी मिलती है। धातुकर्म के लिए कपाल या खर्पर का भी उल्लेख मिलता है। चाँदी के शुद्धिकरण हेतु सीसे के मिलाये जाने का भी उल्लेख है। मुझे अब भी संदेह है कि इस युग में ऐल्कोहल के आसवन का ज्ञान था या नहीं।

इस युग के बाद निःसंदेह नागार्जुन का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में कोष्ठिका, वक्रनाल, कड़ाही तथा गलाकर धातु बनाने तथा आसवन के अनेक यंत्रों, दोलायंत्र, भुवःपातन, अधःपातन, मूषा (क्रुसिबल) और तौलने की मशीन का उल्लेख किया है। भिक्षु गोविन्द ने अपने रसहृदय तंत्र (8वीं सदी ई०) में अनेक प्रकार की मूषाओं--प्रकाश मूषा, मूक-मूषा, वज्रमूषा तथा दीर्घ मूषा के बारे में बताया है। हमे तप्त खल्व -यानी गर्म खरल के बारे में भी जानकारी मिलती है। लगभग सभी उपकरण जो बाद में आये, वे इसी युग में चालू हो चुके थे। भारतीय धातुकला में आठवीं सदी नयी संयोजनाओं तथा अन्य कार्यों के लिए उत्तेजनापूर्ण थी। यह सक्रियता 12वीं सदी तक चलती रही जब तक 'रसार्णव' को समेकित नहीं कर लिया गया। यह पुस्तक पहली बार रसमण्डप या रासायनिक प्रयोगशाला में बारे में बताती है जो यज्ञमण्डप या उत्सव मंदिर की तरह था। इस मंदिर का केन्द्रीय देवता पारे से बना भैरव (रस भैरव) था। यह प्रयोगशाला में रखी जाने वाली वस्तुओं--चिकित्सकीय उद्देश्य वाली धातुएँ, अधातुएँ, लवण, ईंधन, खरल और मूसल, चिमटे, मिट्टी

के पात्र, तुलाएँ, बाँस या लोहे की नली, मूषा तथा यंत्रों में आसवन तथा पिघलाकर ठोस बनाने की क्रिया वाली युक्तियों के बारे में विस्तृत जानकारी देती है। यह पुटों विशेषकर कपोताख्यपुट तथा सामान्य कपाली योग के बारे बताती है जिसमें मूषा में राख बनाने या गर्म करने तथा वस्तुओं का विशेष प्राप्त करने के बारे में बताया गया है। मैंने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत में रसायन का विकास' में लोहा, सीसा, ताँबा, चाँदी, टिन, अभ्रक, वैक्रांत तथा अन्य वस्तुओं का उपयोग करते हुए रसार्णव में बताई गयी नौ कपाली क्रियाओं का उल्लेख किया है।

हमारा देश 300 ई०पू० ही कांच से परिचित हो चुका था। कौटिल्य ग्रंथ में कृत्रिम रत्नों का वर्णन है जो सम्भवतः काँच के बने थे। प्रारम्भिक पारदर्शी कांच चट्टानों (क्रिस्टलों) से प्राप्त किया गया। हमारे सबसे पुराने कांच तक्षशिला तथा भीटा के टीले से प्राप्त किये गये हैं। 13वीं सदी के यशोधर कृत 'रस प्रकाश सुधाकर' में काँच के बर्तन (काँच घटी और काचमय पात्र) का उल्लेख है। यशोधर ने 40 यंत्रों तथा मूषा की सूची दी है। बाद में कांच के बर्तन आयुर्वेदशालाओं और रासायनिक प्रयोगशालाओं में तेजी से उपयोग होने लगे।

हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि भारत में सर्वप्रथम पारा और गंधक को किसने चलाया। चरक में इनका उल्लेख संदेहपूर्ण है। शायद बाद के आयुर्वेदिक काल में इनको महत्व दिया गया। रसविद्या में इनसे एक एक नया युग आ गया। औषधीय उत्पादों में भी नई तकनीक विकसित हो गयी। रस रत्नसमुच्चय में आसवन, राख या चूना निर्माण, गलाकर ठोस बनाने की युक्तियों की सूची दी है। इस ग्रंथ में सर पी०सी० राय बहुत रुचि रखते थे। इसमें अनेक प्रकार की मूषाओं का वर्णन है। इसमें चार प्रकार की कोष्ठिकाओं, सत्वों के बनाने तथा उनके शुद्धीकरण के विषय में विस्तृत जानकारी दी गयी है। लगभग नौ प्रकार के पुटों का वर्णन है। पारे के साथ 18 प्रकार के उपचार (संस्कार) इसके सूचक हैं कि इस धातु के साथ कितने तरह के प्रयोग हुए। 25 प्रकार के पारा संयोग, जिन्हें रस बन्ध कहते हैं, का विस्तृत विवरण आश्चर्यजनक है।

अपने विशिष्ट गुणों के कारण पारे की खोज से बुद्धिजीवी जगत में तीन आशायें जगीं: (i) यह बेकार धातुओं को सोने में बदलने में सहायता करेगी

(ii) इससे ऐसे ओषधीय उत्पाद बनेंगे जो लोगों को अमरता प्रदान करेंगे तथा रोगों पर विजय पावेंगे (iii) इससे मनुष्य आकाश में उड़ेगा। यह सामान्य विश्वास था कि 'विमान' या हवाई जहाज अपनी ईंधन-ऊर्जा पारा वाष्पचक्रों से प्राप्त करेगा। मैं यह कहना चाहूँगा कि इन तीनों में कोई भी इच्छा साकार नहीं हो सकी परन्तु अब भी यह ज्ञान के उन्नयन में सहायक है। आज भी मनुष्य इन्हीं उद्देश्यों (अ) धन और समृद्धि (आ) स्वास्थ्य, तथा मृत्यु और रोगों से छुटकारा (इ) असीमित आकाश में निर्बाध गति से विज्ञान में लगा हुआ है।

———